दीन हीन म्लान दुखी प्राणियों को
मुक्ति की राह दिखाने वाले
देवाधिदेव
जिन तत्त्वदर्शी, वीतरागी
24 तीर्थंकरो
के पावन चरित्र
ज्ञान की दिव्य ज्योति
को आलोकित कर
अहिंसा की मशाल को
निरन्तर स्थिर रखेगा .
सरस सरल और सहज भाषा मे
भगवान महावीर परम्परा के आचार्य
श्री जिनचन्द्र सूरी जी की
महत्वपूर्ण कृति,

सहकारी सुधीर कुमार जैन

तीर्थंकरों के पावन चरित्र

आचार्य श्री जिन चन्द्र सूरी जी

तीर्थंकरों का पावन चरित

आचार्य श्री जिन चन्द्र सूरी जी

अध्यक्ष
श्री नरेश चन्द जैन
कमला पाकेट बुक्स
12 भगतसिंह मार्ग, नई दिल्ली

मूल्य : तीन रुपये

पीयूष प्रिन्टर्स, 32, शिवाजी मार्ग, मेरठ। फोन नं० 75030.

२२ महत्वपूर्ण कृतियाँ

अध्यात्म युवाधिपति : श्री जिनचन्द्र जी सूरी जी महाराज
[आचार्य श्री की जीवनी]

दिव्य जीवन की भव्य झांकियां
[आचार्य श्री के भक्त गणो के सस्मरण]

वीतराग परम्परा के गौरव
[आचार्य श्री के कार्य कलाप]

तपस्या के पांच वर्ष
[दीक्षा से लेकर अब तक का मनोहारी वर्णन]

विश्व और महावीर
[महावीर निर्वाण शताब्दी समारोह पर की गई आचार्य की विदेश यात्रा के सस्मरण]

भगवान महावीर और उनका उपदेश
[आचार्य श्री के सारगर्भित प्रवचन]

चल अकेला महावीर की राह
[आचार्य श्री की ओजस्वी वाणी का चमत्कार]

अहिंसा विवेक
[अहिंसा पर आचार्य श्री मन्थन]

वीतराग गौरव
[आचार्य श्री की सारगर्भित पुस्तक]

आचरण सहिता
[आचार्य श्री की लेखनी का चमत्कार]

भोग नही योग

[प्रवचन]

विवेक तरग

[ललित लेखो का सग्रह]

विनय अनुशीलन और क्षमा शान्ति

[क्षमा -वाणी पर्व पर दिये गये भाषणो का सार]

ग्यारह पावन प्रवचन

[प्रवचन]

विरक्त दिनचर्या

[श्रावक जीवन के लिए महत्वपूर्ण कृति]

२४ तीर्थकरो का पावन चरित्र

[एक महत्वपूर्ण पुस्तक]

राष्ट्रीय नैतिक उत्थान और जिनचन्द्र सूरी जी महाराज

[देश की स्थिति पर महाराज श्री के प्रवचन]

Biography of A Pious Young Saint

[महाराज श्री का जीवन-चरित्र]

National Morality and Mahaueer

[आचार्य श्री की लेखनी का चमत्कार]

Glimpses of Ahimsas Victory

[आचार्य श्री की महत्वपूर्ण कृति]

Veetrag the Goal of Life

[आचार्य श्री का चिन्तन]

Proffile of A Spiritual Young Saint

[विदेश मे आचार्य श्री के धर्म विहान के सस्मरण]

बहुत वर्षों से ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव
की जा रही थी जो एक जैन व्यक्ति को
तीर्थंकर-चरित्र एव जैन सिद्धातो का
परिचय कराये। जैन धर्म के
तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर
भगवान महावीर तक
के उपदेशो को हमे जीवन मे साकार रूप देना होगा।
आज उन्हे अपने जीवन मे उतारने का सबसे
ठीक समय आ पहुचा है, क्योकि जैन धर्म
का तत्वज्ञान अनेकान्त पर आधा-
रित और जैन धर्म का
आचार अहिंसा पर
प्रतिष्ठापित है। तीर्थंकरो का उपदेश भक्त से भगवान
बनने के लिये है। वर्षों से समाज को जो कमी
खटक रही थी उसे पूरा करने मे आचार्य
श्री जिन चन्द्र सूरी जी की यह
पुस्तक सहायक सिद्ध
होगी ॥

—नरेश चन्द जैन

समर्पित

हम समस्त भारतवासी उनके इस आकस्मिक निधन पर हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

यह कृति पूज्य गुरू जी को समर्पित

जिन चन्द्र सूरी

चौबीस तीर्थंकर

तीर्थंकर शब्द जैनधर्म का मुख्य पारिभाणिक शब्द है। तीर्थंकर मोक्षमार्ग के प्रवर्तक युगपुरुष है। तीर्थंकर जैन धर्म सघ का पिता है, सर्वेसर्वा है। तीर्थंकर के महत्व को जैन साहित्य मे खूब विस्तार के साथ अकित किया गया है। आगम साहित्य से लेकर अयतन-साहित्य तक मे तीर्थंकर का महत्व प्रतिपादित है।

"तीर्थ, साधारण भापा मे उसे कहते हैं, जहाँ किसी गहरी नदी का पानी उथला हो और उसका पाट कम चौडा हो ताकि उसे सरलता से पार किया जा सके। जैन परिभाषा के अनुसार तीर्थ शब्द का अर्थ है धर्म-शासन। जो तीर्थ का कर्ता या निर्माता होता है वह तीर्थंकर कहलाता है।"

दूसरे शब्दो मे जो ससार समुद्र से पार करने वाले धर्मतीर्थ की सस्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म है। इस धर्म को धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका हैं। इस चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा गया है। इस तीर्थ की जो स्थापना करते हैं, उन विशिष्ट व्यक्तियो को तीर्थंकर कहते हैं।

तीर्थंकरो ने ससार नदी को पार करने के लिए ऐसे ही सुगम स्थलो की खोज की और मोक्ष-मार्गियो को उस ओर प्रेरित किया, वह तेजस्वी डगर दिखाई। उनका काम आत्मोपकार के साथ लोकोपकार भीथा। जो उन्होंने जाना उसे लोकहित की दृष्टि से सामान्यजन या प्राणिमात्र तक पहुँचा दिया। उन्होने स्वय को जीता व दूसरे लोग

अपने आपको कैसे जीते इसकी व्याख्या उन्होने सरल भाषा मे की। उन्होने जीवन के अमरत्व का उपदेश दिया और निर्मलता के लिए मन को कैसे जीता जाए, इसका एक ज्ञान-शास्त्र दिया।

जैन धर्म मे तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार या अश नही माना गया और न दैवी सृष्टि का अजीव प्राणी ही स्वीकार किया है। जैन शास्त्रो मे साफ-साफ लिखा है कि तीर्थंकर का जीव अतीत मे एक दिन हमारी ही तरह सासारिक प्रवृत्तियो के दल-दल मे फँसा हुआ था। पापरुपी पक से लिप्त था। कषाय की कालिमा से कलुषित था। मोह की मदिरा मे मत था। किन्तु एक दिन महान् पुरुषो के सग से उसके नेत्र खुल गए। भेद-विज्ञान की उपलब्धि होने से तत्व की अभिरुचि जागृत हुई। सही व सत्य स्थिति का उसे परिज्ञान हुआ। जब तक तीर्थंकर का जीव ससार के भोग-विलास मे उलझा हुआ है, जब तक वह वस्तुत तीर्थंकर नही है। तीर्थंकर बनने के लिए उस अन्तिम भव मे भी राज्य-वैभव को छोडना पडता है। श्रमण बनकर स्वय को पहले महाव्रतो का पालन करना होता है। एकान्त, शान्त, निर्जन स्थानो मे रहकर आत्म मनन करना होता है। भयकर से भयकर उपसर्गों को शान्त भाव से सहना पडता है। जब साधना से ज्ञानावर्णीय, दर्शना-वर्णीय, मोहनीय व अन्तराय वर्ग का घाति चातुष्टम् नष्ट होता है तब केवल ज्ञान, केवल दर्शन की प्राप्ति होती है। उस समय वे साधु, साधवी, श्रावक, श्राविका रुप-तीर्थ की स्थापना करते हैं, तब वस्तुत: तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकरो ने पार्थिव जीवन को एक अपार्थिव जीवन-दर्शन दिया, आत्म-साधना का एक विशुद्ध और सुपरीक्षित रास्ता दिखाया। उन्होने सत्य की खोज, आत्मसाक्षात्कार और एक सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि द्वारा मनुष्य को स्वानुभूति का मार्ग बताया। तीर्थंकर कोई रूढ शब्द नही है। उस महिमामयी करुणावान अस्तित्व को कोई भी नाम दिया जा सकता है वस्तुत वह एक अनन्त अपरिमित मनीषा और आत्मबल का

पर्याय शब्द है। तीर्थंकर-पद आत्म-विकास का चरमोत्कर्ष है और आत्मविद्या का सर्वोच्च शिखर।

तीर्थंकर अर्थात् आत्म-विज्ञानी जिसने आत्मा को उसकी सपूर्णता उसकी सकलता मे उपलब्ध कर लिया है। तीर्थंकर प्रयोग पुरुष थे, उनके जीवन खुली वेधशालाएं थे, जहाँ से हम आत्मा के सूर्य और चन्द्रग्रहण तथा तापशील भली-भाँति देख सकते थे, देख सकते हैं। आत्म-आकाश की पूरी खोज-बीन वाले महापुरुष थे तीर्थंकर।

जैन धर्म के प्रवर्तको ने समाज रचना पर भी, गहनता से विचार किया है : इसे कल्पना-प्रधान न बताते हुए वरन् क्रमायोजित जीवन-पद्धति के रूप मे वर्णित किया गया। मनुष्य को पशु मे से विकसित मानकर डर्विन ने एक भिन्न विकास-सिद्धान्त का प्रवर्तन कभी किया था किन्तु जैन धर्म ने मनुष्य को मूल मे मनुष्य मानकर ही उसके विकास की एक सुसगत क्रमबद्ध कथा कह दी है। यह सब कुछ स्वाभाविकता लिए हुए है। जैन पुराणो मे सात कुलकरो का वर्णन आया है। इन्हे मानव सभ्यता का सूत्रधार माना जाता है। इस परम्परा में नाभिराज अन्तिम कुलकर थे। प्रथम शलाकापुरुष तीर्थंकर ऋषभनाथ इन्ही के पुत्र थे।

कुलकर नाभिराज ने मनुष्य को कर्म और पुरुषार्थ के धरातल पर ला खडा किया। कुलकर-परम्परा तीर्थंकर-परम्परा के सन्दर्भ मे ससार की परम्परा थी। एक बन्ध; एक मोक्ष, एक प्रवृत्ति, एक निवृत्ति। कुलकरो ने कुल अर्थात् परिवार और समाज की रचना के आधार बनाए और तीर्थंकरो ने ज्ञान को उस शिखर तक पहुँचाया जहाँ वह 'केवलज्ञान' बनकर मोक्ष रूप हो गया। कुलकरो ने श्रम को गौरवान्वित किया और तीर्थंकरो ने श्रामण्य को।

इन कुलकरो के उपरान्त तिरसठ शलाका पुरुष ये थे—

२४ तीर्थंकर (चौबीस)
१२ चक्रवती (बारह)

९ वलभद्र (नौ)
९ नारायण (नौ)
९ प्रतिनारायण (नौ)

प्रस्तुत अवसर्पिणी काल मे चौवीस तीर्थंकर हुए हैं। जैन धर्म में इन चौवीस तीर्थंकरो की इतनी अधिक महिमा रही है कि वैदिक व वौद्ध परम्परा ने भी उसका अनुसरण किया। वैदिक परम्परा अवतारवादी है जवकि जैन धर्म उत्तारवादी का पक्षधर है।

तीर्थंकरो मे सर्वप्रथम हुए ऋषभनाथ, जिन्होने आत्मविद्या का नेतृत्व किया। जैन दृष्टि से आत्मविद्या के प्रथम पुरस्कर्ता भगवान ऋषभदेव हैं, वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे। ऋषभदेव जी ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया।

ऋषभदेव के वाद २३ तीर्थंकर और हुए जिन्होने ऋषभ-प्रणीत धर्मचक्र को गति दी, ये उसे सामयिक और युगानुरूप वनाए रहने का दायित्व निभाते रहे। जैन धर्म की तीर्थंकर परम्परा ने धर्म को सदैव प्रासगिक अर्थ दिया और उसे लोकोन्मुख वनाए रखा। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने जैन धर्म का आधुनिक परिष्कृत सस्करण प्रस्तुत किया। इतिहास के नेत्र हैं, शिलालेख, ग्रन्थ इत्यादि इनसे आगे पुरातत्व, भूगर्भ विज्ञान और सबसे अन्त मे मनुष्य का अनुमान ज्ञान। इस दृष्टि से हमे नाभि से लेकर वर्द्धमान तक के तीर्थंकरो के सम्वन्ध मे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। जैन धर्म के चौवीस तीर्थंकरो का सक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

१ श्री ऋषभनाथ जी (आदिनाथ) भगवान,
२. भगवान अजितनाथ जी
३. भगवान सभवनाथ
४. भगवान अभिनन्दन नाथ
५ भगवान सुमतिनाथ
६. भगवान पद्मप्रभु

७. भगवान सुपार्श्वनाथ
८. भगवान चन्द्रप्रभु
९. भ० सुबोधनाथ (पुष्पदन्त)
१०. भगवान शीतलनाथ
११. भगवान श्रेयासनाथ
१२ भगवान वासुपूज्य
१३. भगवान विमलनाथ
१४. भगवान अनन्तनाथ
१५. भगवान धर्मनाथ
१६. भगवान शान्तिनाथ
१७. भगवान कुन्थुनाथ
१८. भगवान अर नाथ
१९ भगवान मल्लिनाथ
२० भगवान मुनि सुव्रतनाथ
२१. भगवान नमिनाथ
२२. भगवान नेमिनाथ
२३. भगवान पार्श्वनाथ
२४. भगवान महावीर।

चौबीस तीर्थंकर

तीर्थंकर नाम	लंछन	पिता का नाम	माता का नाम	जन्म स्थान	जन्म तिथि	निर्वाण तिथि
ऋषभदेव स्वामी	वृषभ	नाभिराजा	मरुदेवी	अयोध्या	चैत्र बदी ८	माघ बदी १३
अजितनाथ स्वामी	हाथी	जितशत्रुराजा	विजयादेवी	,,	माघ सुदी ८	चैत्र सुदी ५
सम्भनाथ स्वामी	घोडा	जितारिराजा	सेनादेवी	सावत्थी	मगसर सुदी १४	चैत्र सुदी ५
अभिनन्दन स्वामी	वानर	सवरराजा	सिद्धार्थदेवी	अयोध्या	माघ सुदी २	बैसाख सुदी ८
सुमतिनाथ स्वामी	क्रौंचपक्षी	मेघराजा	सुमगलारानी	,,	बैसाख सुदी ८	चैत्र सुदी ९
पद्मप्रभु स्वामी	पद्म	धरराजा	सुसीमादेवी	कौशम्बी	कार्तिक बदी १२	मगसर बदी ११
सुपार्श्वनाथ स्वामी	स्वस्तिक	प्रतिष्ठराजा	पृथ्वीदेवी	वाणारसी	जेष्ठ सुदी ४	फागुन बदी ७
चन्द्रप्रभु स्वामी	चन्द्र	महासेनराजा	लक्ष्मणादेवी	चन्द्रपुरी	पौष बदी १२	भादवा बदी ७
सुविधिनाथ स्वामी	मगर	सुग्रीवराजा	रामारानी	काकन्दी	मगसर बदी १२	भादवा बदी ९
शीतलनाथ स्वामी	श्रीवत्स	दृढरथराजा	नन्दादेवी	भद्दिलपुर	माघ बदी १२	बैसाख बदी २
श्रेयासनाथ स्वामी	गेंडा	विष्णुराजा	विष्णुरानी	सिंहपुर	फागुन बदी १२	सावन बदी ३
वासुपूज्य स्वामी	भैंसा	वसुपूज्यराजा	जयादेवी	चम्पापुरी	फागुन बदी १४	आपाढ सुदी १४
विमलनाथ स्वामी	सूअर	कृतवर्मराजा	श्यामादेवी	अयोध्या	माघ सुदी ३	आपाढ बदी ७

तीर्थंकर नाम	लंछन	पिता का नाम	माता का नाम	जन्म स्थान	जन्म तिथि	निर्वाण तिथि
अनन्तनाथ स्वामी	बाज पक्षी	सिंहसेनराजा	सुयशादेवी	,,	वैसाख वदी १३	चैत्र सुदी ५
धर्मनाथ स्वामी	वज्र	भानुराजा	सुव्रतादेवी	रत्नापुरी	माघ सुदी ३	जेष्ठ सुदी ९
शांतिनाथ स्वामी	हरिण	विश्वसेनराजा	अचिरादेवी	हस्तिनापुर	जेष्ठ वदी १२	जेष्ठ वदी १३
कुंथुनाथ स्वामी	बकरा	शूरसेनराजा	श्रीदेवी	,,	वैसाख वदी १४	वैसाख वदी १
अरनाथ स्वामी	नद्यावर्त्त	सुदर्शनराजा	देवीरानी	,,	मगसर सुदी १०	मगसर सुदी १०
मल्लिनाथ स्वामी	कलश	कुम्भराजा	प्रभावतीरानी	मिथिला	,, ११	फाल्गुण सुदी १२
मुनिसुव्रत स्वामी	कच्छप	सुमित्रराजा	पद्मावतीदेवी	राजगृही	जेष्ठ वदी ८	जेष्ठ वदी ९
नमिनाथ स्वामी	नीलकमल	विजयराजा	विप्रारानी	मथुरा	सावन वदी ८	वैसाख वदी १०
नेमिनाथ स्वामी	शंख	समुद्रविजयराजा	शिवादेवी	शौरीपुर	सावन सुदी ५	आषाढ सुदी ८
पार्श्वनाथ स्वामी	सर्प	अश्वसेनराजा	वामादेवी	वाणारसी	पोष वदी १०	सावन सुदी ८
महावीर स्वामी	सिंह	सिद्धार्थराजा	त्रिशलादेवी	क्षत्रियकुंड	चैत्र सुदी १३	कार्तिक वदी ३०

प्रथम तीर्थंकर

जैन धर्म के प्रणेता

भगवान ऋषभदेव

भगवान ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर तथा संस्थापक थे। चैतकृष्णा अष्टमी को सूर्योदय के समय उत्तराषाढ नक्षत्र में भगवान ऋषभदेव जी ने मरुदेवी की कोख में जन्म लिया, आपके पिता का नाम महाराज नाभि था।

अभिषेक उत्सव मनाने के लिए इन्द्र-जन्म ने माता को नींद में डालकर बालक जिनको उठा लिया और उसकी जगह एक मायामयी बालक रख दिया। बालक के शरीर का स्पर्श पाकर इन्द्र ऐसा सुखी हुआ मानो तीनों लोकों की निधि उसे प्राप्त हो गई है। बाहर आकर इन्द्र हर्षातिरेक हो उठा और उसका सुन्दर और भव्य रूप निहारने लगा।

वे सुमेरुपर्वत पर जा पहुँचे, सबने बड़े प्रेम ने गिरिराज की प्रदक्षिणा की और फिर पाण्डुक शिला के ऊपर बाल जिन को विराजमान कर दिया। बालक जिन के जन्माभिषेक को देखने के लिए सभी देव आतुर थे अतः वे पाण्डुक शिला को घेरकर बैठ गए। जैसे ही अभिषेक की तैयारियाँ आरम्भ हुईं, देव दुन्दुभि बजाने लगे और अप्सराएँ नाचने लगीं। बहुत से देव सोने का कलश लेकर क्षीरसमुद्र का जल लाने के लिए चल दिए। क्षीर समुद्र से लेकर पाण्डुक शिला तक देवों की पंक्ति लग गई। जैसे ही सौधर्मेन्द्र ने जय-जयकार करते हुए भगवान के मस्तक पर जल की धारा डाली, एक साथ करोड़ों कण्ठों से

निकली हुई जयध्वनि से आकाश मण्डल गूंज उठा। उसके बाद सभी स्वर्गो के इन्द्रो ने भगवान के मस्तक पर एक साथ जल की धारा छोडी।

अभिषेक की समाप्ति होने पर इन्द्र ने जगत की शान्ति के लिए उच्च स्वर से प्रार्थना की।

जब इन्द्राणी ने वस्त्र-आभूषणो से अलकृत कर बालक जिन को इन्द्र की गोद मे दे दिया उस समय बालक का सौन्दर्य देखकर इन्द्र भी मुग्ध हो उठा और भक्तिभाव से स्तुति करने लगा। स्तुति कर चुकने के बाद जिस उत्सव के साथ अयोध्या से मेरु तक आए थे उसी उत्सव के साथ मेरु से अयोध्या आ पहुँचे। इन्द्र ने भगवान को गोद में लेकर महाराज नाभि के घर मे प्रवेश किया, उस समय नाभिराज और मरुदेवी अपने प्रियदर्शी पुत्र को देखकर बहुत खुश हुए और इन्द्र को आश्चर्य भरी नजरो से देखने लगे। उनके प्रश्नवाचक नजरो को देखकर इन्द्र ने जन्माभिषेक की सारी कथा सुनाई। इन्द्र से अपने पुत्र के जन्माभिषेक की कथा सुनकर माता-पिता आश्चर्य सहित आनन्द-विभोर हो उठे।

इतने मे ही अयोध्या नगरी के वासियो की आकाश को गुन्जित करने वाली आवाजो ने उन्हे सचेत किया। आनन्द और मस्ती मे सारे नगरवासी नाचते, गाते और बाजे बजाते चले हुए आ रहे थे। अयोध्या-वासियो को हर्ष-विभोर देखकर इन्द्र का अग-अग खुशी से झूम उठा इन्द्र को नाचता हुआ देख गधर्वो ने सुमधुर सगीत बजाना आरम्भ कर दिया, फिर तो समा बँध गया और अनेक देव-देवागनाएँ इन्द्र के साथ नृत्य करने लगी, महाराज नाभि तथा मरुदेवी उस आश्चर्यजनक नृत्य को देखकर बहुत ही चकित हुए। उसी समय बालक का नाम 'ऋषभ' रखा गया, क्योकि प्रथम, वह विश्व मे श्रेष्ठ था, दूसरे वह श्रेष्ठधर्म से शोभायमान था, तीसरे, माता ने उसके गर्भावतरण के समय स्वप्न मे ऋषभ (बैल) को देखा था। इस तरह जन्मोत्सव मनाकर इन्द्र देवो के

साथ अपने स्थान को चले गए।

भगवान ऋषभदेव महाराज नाभि के घर मे बाल चन्द्रमा के समान धीरे-धीरे बढ़ने लगे और देवकुमारों के साथ खेलने लगे। ज्यों-ज्यों उनके शरीर मे वृद्धि होती गयी, त्यों-त्यों उनकी समस्त कलाएँ भी बढ़ती गई। उन्होंने शिक्षा के बिना ही समस्त कलाओं, विद्याओं और क्रियाओं मे स्वय ही निपुणता प्राप्त कर ली। उस समय एक मात्र वे ही सरस्वती के स्वामी थे इसलिए वे समस्त लोक के गुरु माने जाते थे।

धीरे-धीरे जवान होने पर उनका शरीर बहुत ही मनोहर हो गया। उनके रूप-सौन्दर्य को देखकर मनुष्य आनन्द-विभोर हो जाते थे।

एक दिन महाराज नाभि ने उनको पूर्ण युवावस्था में जानकर व विवाह योग्य समझकर उनकी सम्मति लेनी चाही क्योंकि उनका विषय राग अत्यधिक मद था, नाभिमहाराज की विवाह करने के लिए प्रार्थना व गुरु समान आज्ञा सुनकर भगवान ने मूक स्वीकृति प्रदान कर दी, पुत्र की अनुमति पाकर नाभिराज बड़े प्रसन्न हुए। और विवाहोत्सव की तैयारियां आरभ कर दी। उन्होंने इन्द्र की सलाह से सुशील व सुन्दर दो सुलक्षणी कन्याओं को पसन्द किया। एक का नाम सुमगला और एक का नाम सुनन्दा था। दोनों कन्याओं के साथ नाभिराज ने ऋषभदेव का विवाह कर दिया। पुत्रवधू के साथ अपने पुत्र को देखकर महाराज नाभि अत्यन्त प्रसन्न हुए और यो ठीक भी है क्योंकि लोगों को लौकिक धर्म ही प्रिय होता है। अपनी दोनों पत्नियों के साथ विहार करते हुए ऋषभदेव का सुदीर्घ काल क्षण के समान बीत गया।

एक दिन महादेवी सुमगला ने भव्य स्वप्न देखा और भगवान ऋषभदेव से अपने स्वप्न के बारे मे पूछने पर भगवान ने बताया कि—देवि! तुझे चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी जो बड़ा प्रतापी व कीर्तिमान होगा।

नौ मास बीतने पर सुमगला ने महापुण्यशाली, तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। सारा नगर ये जानकर हर्षातिरेक से झूम उठा। बालक

का नाम 'भरत' रखा गया। भरत के पश्चात सुमगला के अट्ठानवे पुत्र और हुए तथा एक कन्या भी हुई। वे सभी पुत्र सुन्दर व बडे प्रतापी थे। ऋषभदेव की द्वितीय पत्नी सुनन्दा के भी बाहुबलि नामक पुत्र व सुन्दरी नाम की पुत्री हुई।

जब ऋषभदेव जी के बडे पुत्र भरत ने दिग्विजय कर वापस अयोध्या के लिए प्रस्थान किया तो उनका चक्ररत्न नगर के मुख्य द्वार पर जाकर रुक गया। क्योंकि उनके भाईयों ने भगवान ऋषभदेव जी को छोडकर अन्य किसी को नमस्कार करना स्वीकार नही किया था और उन सब भाईयो मे विशेपकर बाहुबलि मुख्य थे। भरत यह सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। अन्त मे उनके अन्य सब भाईयो ने गृह त्याग कर तप को स्वीकार किया परन्तु बाहुबलि से भरत को परास्त होना पडा, तब, जब भरत ने क्रोध मे आकर, नीति-अनीति का विचार किए बिना चक्ररत्न का स्मरण किया और बाहुबलि पर चला दिया। चक्र ने बाहुबलि के पास जाकर, उसकी प्रदक्षिणा की और तेजहीन होकर वहीं ठहर गया। बाहुबलि विजय के उपरान्त मदान्ध न होते हुए ये सोचने के लिए मजबूर हो गए। वे सोचने लगे—"हमारे बडे भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए कैसा अपमानजनक कार्य किया है। यह साम्राज्यलक्ष्मी व्यभिचारिणी स्त्री के बराबर है जो एक पुरुष को छोड दूसरे पुरुष के पास चली जाती है, फिर भी मनुष्य उसे नही छोडता।" जब बाहुबलि ने विरक्त हो वन मे तपस्या को अपना लिया। उन्होने सब परिग्रहण का त्याग करके एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया। धीरे-धीरे उन्हे लताओ ने घेर लिया। सापो ने अपनी बागिया बना ली किन्तु ऐसी अवस्था होने पर भी वे रचमात्र भी विचलित नही हुए।

इस तरह कठोर तप करते हुए भी बाहुबलि को केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हुई क्योकि उसमे अभी भी अहकार का एक छोटा-सा शूल बाधक था। उसे दूर किया उनकी बहनो ने और उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया।

भगवान ऋषभदेव जी महाराज ने अपनी दोनो पुत्रियो व एक सौ पुत्रो को शिक्षा देकर सुशिक्षित बना दिया। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपनी सन्तान को सुशिक्षित बनाकर, पुरुषो के सामने यह आदर्श उपस्थित किया कि माता-पिता का कर्त्तव्य केवल सन्तान को जन्म देना ही नही किन्तु उसे सुशिक्षित करना भी है। तथा पुत्रो से भी प्रथम—पुत्रियो को सुशिक्षित करना आवश्यक है।

भगवान ऋषभदेव जगत्गुरु थे अत उन पर केवल कौटुम्बिक उत्तरदायित्व ही नही वल्कि सार्वजनिक उत्तरदायित्व भी था। सारी जनता उन्हे अपनी सन्तान की तरह ही प्रिय थी।

उस समय तक जिन औषधियो से जनता अपना रोग दूर करती थी, वे औषधियाँ शक्तिहीन हो गई थी। बिना बोये पैदा होने वाले धान से मनुष्य अपना निर्वाह अब तक करते आए थे वह भी बहुत कम पैदा होने लगा था अत जनता सन्त्रस्त होकर जब महाराज नाभि के पास पहुँची तो उन्होने अपने पुत्र को अत्यन्त योग्य जानकर लोगो को ऋषभदेव के पास भेज दिया।

लोगो ने जाकर ऋषभदेव भगवान को अपनी व्यथा सुनाई। ऋषभदेव जी उनकी बातें सुनकर द्रवित से हो उठे और मन ही मन पश्चाताप करते हुए विचार मग्न हो गए। सब कुछ सोचकर भगवान ने लोगो को ग्राम नगर बसाने का उपदेश दिया और कहा कि अब लोग बिना सामूहिक जीवन के अपना जीवन निर्वाह नही कर सकते। अब आपको अपना-अपना एक गाँव या नगर आदि बसाकर रहना चाहिए और अपने-अपने गाँव के लोगो के लिए जो-जो आवश्यक कार्य और वस्तुएं हैं उन्हें आपस मे बाँटकर नियत कर लेना चाहिए। ऐसा करने पर आपका सामाजिक व कौटम्बिक कार्य निर्विघ्न चल सकेगा। भगवान ऋषभदेव जी ने आजीविका के छ साधनो का प्रतिपादन किया—'असि' (अस्त्र-शस्त्र चलाने मे प्रवीण शूरवीरो के लिए जो सदा समाज की रक्षा मे तत्पर हो और इनका पोषण-प्रबन्ध शेष

लोग करेंगे), 'मषि' (ऐसे लोग जो पढने-लिखने मे चतुर हो जो समाज की इस वुनियादी जरूरत को पूरा करने मे तत्पर हो)। 'कृषि' (जीवन के लिए सबसे अधिक आवश्यक चीज अन्न है जमीन साफ करके उसमे अनाज वोना ताकि भोजन सुलभ हो सके अत इस व्यवसाय मे अभि-रुचि रखने वाले)। 'विद्या' (दिन भर श्रम करने के पश्चात् थकान दूर करने के लिए कुछ मनोरजन के साधन होना भी आवश्यक है अत जो गीत नृत्य के द्वारा जनता का मनोरजन करके जीवन-निर्वाह मे अभि-रुचि रखते हो)। 'शिल्प' (खेती आदि के लिए औजारो की जरूरत होती है, मकान वगैरह वनाने के लिए भी आदमियो की जरूरत पडेगी अत जो इन साधनो मे अभिरुचि रखते हो)। 'वाणिज्य' (जो कृषि शिल्प आदि से उत्पन्न वस्तुओ को लेना व वेचना पसन्द करे।

इस तरह लोगो को उपदेश देकर भगवान ने इन्द्र को आदेश दिया कि तुम इन लोगो की सहायता करो। इन्द्र की प्रेरणा व सहायता से ग्राम-नगर की व्यवस्था हो गई। बीच मे एक नगर वसाया गया और उसके चारो ओर छोटे-वडे ग्राम बसाए गए। सौ घरो का एक छोटा ग्राम और पांच सौ घरो का एक वडा ग्राम होता था। छोटे गाँव की सीमा एक कोस और वडे गाव की सीमा दो कोस रखी गई। गाँव मे वगीचे, तालाव और खेतो की वहुतायत थी। घास व जल का उत्तम प्रवन्ध था।

धीर-धीरे जव लोग अपने-अपने धन्धो मे लग गए तो भगवान ऋषभदेव ने उन्हे तीन वर्गों मे विभाजित कर दिया। जो शस्त्र धारण करके आजीविका करते थे वे क्षत्रिय कहलाए। जो खेती व्यापार पशु पालन आदि के द्वारा आजीविका करते थे वे वैश्य कहलाए। जो इनकी सेवा करते थे वे शूद्र कहलाए।

पहले भोगभूमि के मनुष्य किसी प्रकार का अपराध नही करते थे, अत· दुष्टो का निग्रह करने की आवश्यकता नही थी। किन्तु कार्य-भूमि मे अपराधो की प्रवृत्ति होने लगी थी अत दण्ड के भय से लोग

कुमार्ग की ओर नही जायेंगे यह सोचकर भगवान को दण्ड की भी व्यवस्था करनी पड़ी। ऐसा सोचकर ऋषभदेव ने प्रजा के कुशलक्षेम के लिए कुछ पुरुषो को दण्डधर नियुक्त किया। उसके लिए उन्होंने किसी को माण्डलिक, महामाण्डलिक और किसी को अधिराज बनाया।

कोई उन्हे प्रजापति कहता था तो कोई उन्हे आदि ब्रह्मा की सज्ञा देता था और कोई उन्हे हिरण्यगर्भ भी कहते थे, क्योंकि उनके गर्भ मे आने पर सुवर्ण की वर्षा हुई थी। इस तरह प्रेमवश लोग उन्हे विभिन्न नामो से पुकारते थे और भगवान अपने इस विभिन्न नामो को सुनकर कभी-कभी मुस्करा देते थे।

इस तरह ऋषभदेव को समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन करते हुए कई वर्ष बीत गए और प्रजा की दशा बराबर ऊँची उठती गई। एक दिन भगवान ऋषभदेव विशाल सभा मण्डप के बीच मे सिंहासन पर विराजमान थे और नीलाजना नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी। उसका नृत्य इतना सुन्दर था कि ऋषभदेव का मन भी उधर आकृष्ट हो गया। ऐसा आत्मविश्वासी व आत्मविभोर कर देने वाला नृत्य उन्होने आज तक नही देखा था। इतने मे ही उसके पैर डगमगाए और वह इस ढग से पृथ्वी पर लेट गई मानो वह अपनी नृत्यकला का ही एक अभिनय कर रही हो।

नीलाजना के गिरते ही इन्द्र ने सभा मे विघ्न भय से तुरन्त एक वैसी ही दूसरी नर्तकी को खड़ा कर दिया और नृत्य ज्यो का त्यो बना रहा। यह कार्य इतनी तेज गति से किया गया कि सभा मे उनसे एक के अन्त और दूसरे के आगमन से यह रहस्य छिपा नही रहा। वह तुरंत समझ गए कि पहली नर्तकी का अन्त हो गया। जीवन के अन्त का यह प्रथम दृश्य देखते ही उनकी ज्ञान-चेतना जाग उठी और वे सोचने लगे —देखो, यह नर्तकी हमारे देखते-देखते ही अदृश्य हो गई। इन्द्र ने जो यह कपट नाटक रचा है, इसमें उसका अवश्य ही कोई उद्देश्य है। जैसे नीलाजना का शरीर विनाशी था वैसे ही ये सब भोग-विलास भी

अस्थाई है।

ये विचार आते ही उन्हे सारा जगत क्षणिक और शून्य लगने लगा। ऋषभदेव जी ने तपश्चरण करने का दृढ सकल्प कर लिया। जैसे ही उनके इस सकल्प की खबर फैली चारो ओर हलचल-सी मच गई। चारो ओर चिन्तित मनुष्य ऋषभदेव भगवान के चले जाने की वात सुनकर व्यथित हो उठे। तप-कल्याण को प्रस्थान से पूर्व भगवान ने अपने वडे पुत्र भरत को अयोध्या का राजा व वाहुवली को तक्षशिला का राजा वनाने का आयोजन किया।

अपना राज्य सव पुत्रो को सौंप कर विराकुल से भगवान समस्त कुटुम्वियो से विदा ले रहे थे। और वे एक भव्य आयोजन सहित जो देवो द्वारा आयोजित किया गया था अयोध्या से प्रस्थान कर गए।

उनके जाने से समस्त जनता, महादेवियो व देव भी दु खी हो गए। भगवान की पालकी सिद्धार्थ वन मे जाकर रुक गई। धीरे-धीरे सव देव समूह और जनसमूह भी वहाँ आ पहुँचा। पालकी से उतरकर भगवान शिला पर वैठ गए। शरीर के सव वस्त्राभूषण उतारकर पृथ्वी पर रख दिए तथा सिद्धो को साक्षीपूर्वक कर समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। फिर भगवान ने पूर्व दिशा की ओर मुख करके पाँच मुष्टियो मे समस्त केशो का लोच कर डाला। इस तरह केश लोच करके भगवान ने जिनदीक्षा धारण की। उसी समय भगवान की देखा-देखी चार हजार लोगो ने भी दीक्षा धारण कर ली। वे लोग भगवान के अभि-प्राय से अनभिज्ञ थे, वे केवल स्वामीभक्ति से प्रेरित होकर ही दीक्षित हुए थे। दीक्षा के वाद भगवान की स्तुति करके सब वापस अपने स्थान लौट गए।

भगवान ऋषभदेव शरीर से भी ममत्व छोडकर मौनपूर्वक तपश्चरण मे सलग्न हुए।

इस प्रकार जब भगवान अत्यन्त निस्पृह होकर ध्यानस्थ थे तब अन्य दीक्षितो का धैर्य छूटने लगा और कई भ्रष्ट होकर कन्द-मूल

खाकर अपना जीवन-यापन करने लगे।

भगवान शुद्ध आहार की गवेषणा में आत्मलग्न होकर भ्रमण कर रहे थे। परन्तु एक वर्ष तक शुद्ध आहार की प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन हस्तिनापुर में उन्हीं के प्रपौत्र श्रेयांस के द्वारा उन्हें शुद्ध भोजन उपलब्ध हुआ।

भगवान को ज्ञान की प्राप्ति होते ही भगवान ऋषभदेव ने अनन्त गम्भीर वाणी में विस्तार के साथ सारभूत तत्त्वों की विवेचना की। उस समय भगवान के मुंह से दिव्य ध्वनि ऐसे लग रही थी कि जैसे किसी पर्वत की गुफा से प्रतिध्वनि निकलती है। उनका प्रत्येक अक्षर स्पष्ट था। ऐसा लग रहा था मानो भगवान की लोककल्याण की प्रबल भावना ने ही वाणी का रूप ले लिया हो। भगवान कहने लगे—'भव्य जीवो! यह जगत अनादि अनन्त है। यह सदा से चला आ रहा है और सदा ऐसे ही चलता रहेगा। यह छः द्रव्यों से बना हुआ है, ये द्रव्य भी अनादि-अनन्त है। उनका कोई बनाने और मिटाने वाला नहीं।' ये छः द्रव्य है—जीव, पुद्गल (रूप-गन्ध, स्पर्श) धर्म, अधर्म, आकाश और काल। हिंसा ही दुःख का कारण है और अहिंसा ही सुख का कारण। अतः यदि सच्चा सुख चाहते हो तो अहिंसक बनो और अहिंसक बनना चाहते हो तो सतोषी बनो। जो सतोषी है वही अमरत्व पा सकता है। अहिंसा ही परम धर्म है इसी से सबका कल्याण होगा।'

भगवान के दिव्य प्रवचन को सुनकर सभा अत्यन्त संतुष्ट हुई। पुण्डरिक आदि भगवान के गणधर हो गए। जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गए थे वे भगवान के उपदेश से प्रबुद्ध होकर पुनः दीक्षा ग्रहण करने लगे।

भगवान ऋषभदेव अपने चौरासी गणधरों के साथ मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहे। उनके संघ में चौरासी हजार मुनिराज थे, तीन लाख आर्यिकाएँ थी, तीन लाख पचास हजार श्रावक थे और पांच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ थी। भगवान की आयु क्रमशः

क्षीण होती जा रही थी और शारीरिक बन्धन से भी मुक्ति का समय निकट आ रहा था।

भगवान की दिव्य ध्वनि एक बार फिर सुनाई पड़ी 'दोष दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु आदि पापो से भरे हुए इस ससार को छोड़ने का प्रयत्न करो। गृहस्थ आश्रम छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और चरित्र का अच्छी तरह अभ्यास करो। ये ही तुम्हें इस ससार से छुडा सकते है। जो लोग गृहस्थ आश्रम न छोड़ सके वे गृहस्थ आश्रम मे रहते हुए भी सतोषपूर्वक जीवन यापन करे। उतना ही आरम्भ करें जितना आवश्यक हो। उतना ही परिग्रह रखे जितना परिवार के निर्वाह के लिये आवश्यक हो। दानी बनो, शीलवान बनो और इन्द्रियो पर अंकुश रखकर इन्द्रियजयी बनो। दासता बुरी है, चाहे वह किसी व्यक्ति की हो या अपने शरीर व इन्द्रियो की हो। आत्मकल्याण ही उपादेय है और सब हेय है।'

यह भगवान का अन्तिम संदेश था। सभी श्रोता चातक की तरह इन अमृत की बूंदो का पान कर रहे थे। सहसा दिव्य ध्वनि के बन्द होने से सब देखते रह गए। इसके बाद भगवान ध्यानस्थ हो गए।

भगवान के मुक्त होते ही आठ गुणो से प्रकाशमान शुद्ध आत्मा शरीर मे से निकलकर चारो ओर लोक के अग्रभाग मे जाकर सिद्धालय मे विराजमान हो गया।

भगवान ऋषभदेव के दिव्य सदेश तब से लेकर आज तक विभिन्न रूपो मे मुखरित हुआ है।

भगवान अजित नाथ

भगवान अजितनाथ द्वितीय तीर्थंकर थे। विमलवाहन के जन्म में इन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय :—पूर्व विदेह क्षेत्र मे सुसीमा नामक नगरी थी। वहां का राजा विमलवाहन, अनेक गुण सयुक्त, अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा प्रजापालक था।

राजा विमलवाहन एक समय बैठे बैठे यह विचार रहे थे कि—'ससार के समस्त पदार्थ क्षणिक वर्णस्थायी है, फिर भी प्राणी मोह के वश होकर अपने-आपको भूल जाता है और ससार के पदार्थों मे ऐसा फस जाता है कि उसे अपने हिताहित का ध्यान ही नहीं रहता। जो मनुष्य शरीर, अनन्त पुण्योदय से प्राप्त हुआ है उसे भोग विलास और कुटुम्ब-परिवार के ममत्वों में ही खो देता है, उच्चे हितकारी धर्म की आराधना नहं करता।'

राजा विमलवाहन इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उन्हें सूचना मिली नगरी के बाहर उद्यान मे अरिदम नाम के मुनि पधारे है। विमलवाहन मुनिराज के दर्शन करने गया, प्रथम उसने विधि सहित वन्दना की। वन्दना करने के पश्चात मुनि के उपदेशों को ग्रहण किया, उनके उपदेश का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह ससम्त हो गया। राजा विमलवाहन ने,

आचार्य अरिदम की सेवा मे उपस्थित होकर उनसे सयम स्वीकार किया और समिति गुप्ति आदि का पालन करते हुए जनपद मे विचरने लगे मुनि विमलवाहन, चौथ, षष्ट, विष्टम, एकावलि, रत्नावलि, कनकावलि आदि तप करने लगे और भगवान अरिहन्त सिद्ध के ध्यान मे मग्न रहने लगे। इस प्रकार विशुद्ध भावना से उन्होने, तीर्थंकर नाम कर्म का सम्पादन किया। अन्त मे अहमिन्द्र पदधारी देव हुए।

वर्तमान परिचय —दक्षिण भरत क्षेत्र मे अयोध्या नाम की एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ भगवान आदिनाथ के वशज जितशत्रु नाम के राजा, राज्य करते थे। महाराजा जितशत्रु की विजयादेवी नाम की पटरानी शीलादि गुणो से युक्त थी।

जन्म —विमलवाहन मुनि का जीव आयुष्य समाप्त करके, विजयादेवी के गर्भ मे आया। महारानी विजयादेवी, सो रही थी। उन्होने, तीर्थंकर के गर्भ कल्याण-सूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नो का फल पूछने पर महाराज जितशत्रु ने अवधिज्ञान से जानकर कहा—'स्वप्न को देखते हुए, तुम्हारे कोई तीर्थंकर पुत्र होगा, उसी के पुण्य प्रताप के कारण छः मास पहले से ये रत्न बरसा रहे है।' महाराजा की ये बात सुनकर महारानी आनन्दित हो उठी। उधर इन्द्रादि देवो को यह ज्ञात हुआ, कि तीर्थंकर भगवान गर्भ मे पधारे है तो उन्होने आकर भगवान का गर्भ कल्याणोत्सव मनाया।

नव मास पूर्ण होने पर महारानी विजयसेना ने, हाथी के भव्य लक्षण वाले, पुत्र को माघ सुदी ४ को जन्म दिया। जितशत्रु और विजया अजित-सा पुत्र रत्न पाकर कृतकृत्य हो उठे। भगवान का जन्म होते ही इन्द्रादि के आसन कम्पित हुए, जिससे अवधिज्ञान द्वारा उन्होने भगवान का जन्म होना जान लिया। भगवान का जन्म जानकर, उन्होने अपनी-अपनी ऋद्धि सहित नियत स्थान पर उपस्थित होकर, भगवान का जन्म कल्याण मनाया। अजित

जन्म ही से मति श्रुति, और अवधि इन तीन ज्ञानो से शोभायमान थे। युवा होने पर 'माता-पिता ने उत्साहपूर्वक अजित का विवाह किया। भोग का फल देने वाले कर्मों को पूर्ण करने के लिए, कुमार अजितनाथ अपनी रानियों के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे। महाराजा जितशत्रु को ससार से वैराग्य हो गया, इसलिए राज्य का भार कुमार अजितनाथ को सौंप दिया।

महाराजा अजितनाथ ने, सगरकुमार को अपना युवराज बनाया और निर्विघ्न रूप से राज्य चलाने लगे

वैराग्य —एक दिन महाराजा अजितनाथ राज्यकार्य से निवृत हो एकान्त मे बैठकर विचार करने लगे। अन्त मे उन्होंने निश्चय किया कि—'मेरे भोगफल के देने वाले कर्म बहुतांश मे पूर्ण हो गये है, इसलिए अब मुझे गृस्थाश्रम मे रहना उचित नही वरन् चारित्र लेकर, धर्म का उत्थान एवं भव्य जीवो का कल्याण करना चाहिये। भगवान के इस प्रकार निश्चय करने पर उसी समय लोकान्तिक देवो ने आकर उनके विचारों को पुष्ट किया। बाद मे सगर कुमार को बुलाकर कहा— प्रिय बन्धु' यह राज्य आप स्वीकार करें। मैं धर्म–साधना मे लगूंगा।

इन्द्रो के आसन कम्पित होने पर उन्होने अवधिज्ञान द्वारा भगवान का दीक्षा कल्याण समय जान लिया और अयोध्या में आकर भगवान के निष्क्रमणोत्सव की तैयारी की। 'सुप्रभा' पालकी पर सवार हो भगवान अयोध्या के बाहर सहेतुक बाग मे पधारे। पालकी से उतरकर भगवान ने अनन्त सिद्धो को नमस्कार करके, सर्व सावद्य त्याग रूप दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही, भगवान को मन.पर्यय ज्ञान हुआ। भगवान के साथ ही एक हजार राजाओ ने भी दीक्षा ली।

अजितनाथ सगरकुमार को राज्य देकर सन्यस्त हुए थे। सगर ने राज्य का कुशलतापूर्वक सचालन किया। वह एक के

बाद एक अन्य राज्यो को अपने आधीन करते गये । उन्होने छह खण्ड पृथ्वी के सभी राजाओ— महाराजाओं को अपने वश मे कर लिया । वह अपार सम्पत्ति के स्वामी चक्रवर्ती सम्राट बने ।

भगवान अजितनाथ दीक्षा ग्रहण करके अपने साथी मुनियो सहित अन्यत्र विहार कर गये । भगवान समिति, गुप्ति का पालन एव विहार करते हुए, देह की ओर से निर्ममत्व होकर बारह वर्ष तक छाद्मावस्था मे कठोर साधना करते रहे । एक दिन वह सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यान मे लीन थे तभी उन्हे दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ । वह केवलज्ञानी हो गये । इसके बाद अनेको वर्षो तक वे कल्याणकारी उपदेश देते रहे । वे जहा भी पहुंचते समवशरण का आयोजन किया जाता । इस समवशरण में बिना रोक-टोक के सभी शामिल हो सकते थे । उनके उपदेश जन भाषा मे होते, कोई भी उन्हे सहज रूप मे ग्रहण कर सकता था । प्राणिमात्र के कल्याण के लिए वे धर्म का उपदेश देते ।

इस प्रकार अनेको वर्षों तक धर्म का उपदेश देते हुए अजितनाथ विहार के सम्मेद शिखर पर पहुंचे । वहां उन्होंने अपनी साधना के अंतिम चरण को पूरा किया और चैत्र सुदी ५ को मोक्ष प्राप्त किया ।

तृतीय तीर्थंकर

भगवान संभव नाथ

संभव नाथ तीसरे तीर्थंकर थे। विपुल वाहन के भव में उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय—धातकी खण्ड द्वीप में क्षेमपुर नाम का एक नगर था। क्षेमपुर का राजा विपुलवाहन न्यायी, दयालु प्रजा-पालक और धर्मप्रिय था। एक समय विपुलवाहन के राज्य में दुष्काल पड़ा। अधिकांश प्रजा, अन्न के अभाव से दुःख पाने लगी और अन्न के लिये इधर-उधर भटकने लगी। विपुलवाहन को दुष्काल का पता चला। उसने मंत्रियों को बुलाकर स्थिति को समझा। उनका मन बहुत दुःखी हुआ। प्रजा के कष्ट से वह विचलित हो गया। उसने राज्य के सभी धान्यागार प्रजा के लिये खोल दिए। और घोषणा की कि—'सब अपनी आवश्यकता का अन्न राजभंडारों से निःशुल्क प्राप्त करें। साधु-भिक्षुओं के लिये आहार-भिक्षा का राजकोष से समुचित प्रबन्ध हो।'

इस तरह दुष्काल टल गया पर विपुलवाहन के मन पर एक गहरा प्रभाव छोड़ गया।

एक दिन एकान्त में बैठे वे आकाश की ओर देख रहे थे। उन्होंने देखा—बादलों में अनेक रूप बनते और मिट जाते हैं। अभी विशाल पर्वताकार बना और अगले ही क्षण बिखर गया। अभी गजाकृति बनी, दूसरे पल देखा तो गज का नाम-निशान नहीं। विपुलवाहन का मन भारी हो गया। उनका हृदय भर गया।

वे सोचने लगे—'जिस प्रकार यह मेघ घटा देखते ही देखते बनी और विनष्ट हो गयी, उसी प्रकार सासारिक सम्पति भी देखते ही देखते बढती और विनष्ट हो जाती है। ऐसा होते हुए भी, मोह के वशीभूत बनें हुए प्राणी, ससार के क्षणभगुर पदार्थों को अविनाशी मानकर, उन्हे पकडे रहने की चेष्टा करते है। मुझे तो अविनाशी सुख पाना है। वे आचार्य स्वयप्रभ के पास गये और दीक्षा ले ली।

वे कठोर साधना मे लग गये। उन्होने तीर्थंकरत्व की कठोर साधना की। यही विपुलवाहन जन्मजन्मातर मे तीर्थंकर समवनाथ बनें।

वर्तमान परिचय—जम्बूद्वीप के भरतार्द्ध में श्रावस्ती नाम की एक रमणीय नगरी थी। वहा तिजारि नाम के राजा राज्य करते थे। उनको रानी का नाम सेनादेवी या सुसेना था। श्रावस्ती उस समय की प्रसिद्ध नगरी थी। तिजारि का यश भी सुदूर देशो में फैला था

जन्म.— एकदिन सुसेना सुख की नींद सो रही थी। तारो भरी रात का अन्तिम पहर शेष था। सुसेना की पलको पर सुनहले सपनें तैरने लगे, उसने तीर्थंकर के गर्भ कल्याण सूचक चौदह स्वप्न देखे। प्रातःकाल वह उठी तो उसकी अलसाई देह पुलकित थी। उसने महाराजा तिजारि से अपने सपनो का फल पूछा? तिजारि ने स्वप्नफल का विचार करके कहा—'भद्रे! तुम एक तीर्थंकर पुत्र को जन्म दोगी।' सुसेना यह सुनकर गदगद हो उठी। सारा वातावरण मगलमय हो उठा।

नौ मास सात राते बीतने पर मगसर सुदी १४ सुसेना ने पुत्र को जन्म दिया—एक सातिशय पुत्र को। देवो ने सुमेरू पर्वत पर ले जाकर भगवान का जन्म कल्याण मनाया। बालक

का नाम सबकी सहमति से संभव रखा गया। जैसे-जैसे कुमार सभव बडे होते गये, वैसे वैसे राज्य सुखी और अधिक समृद्ध होता गया।

युवावस्था मे सभव का विवाह हुआ। कुछ समय बाद महाराजा तिजारि को ससार से वैराग्य हो गया। वे, राजपट संभव कुमार को सौप कर सयम मे प्रवजित हो गये और उन्होने आत्मकल्याण किया।

वैराग्यः— महाराजा सभवनाथ न्यायपूर्वक राज्य करने लगे। महाराज सभवनाथ को जब इसी प्रकार राज्यवस्था मे ४४ लाख पूर्व बीत चुके तब वे एकान्त स्थान पर बैठकर विचार करने लगे—'मैंने ये इन्द्रिय भोग अनेक जन्मो तक भोगे, फिर भी इनसे मन नही भरा। ये विष मिश्रित मिष्ठान की तरह है ··प्रारम्भ मे मधुर और परिणाम में प्राण घातक। इस मनुष्य शरीर को सासारिक प्रपचो मे ही लगाये रहना इनके द्वारा परमार्थ न करना और अन्त मे दुर्गति मे पडना, बडी भारी मूर्खता है। इसलिये मुझे अब, आत्मकल्याण का मार्ग अपना कर, भव्य जीवों को धर्म मार्ग मे लगाना चाहिये। यह मनुष्य जन्म बार-बार मिलना कठिन है। अमृत-घट को पैर धोने मे नष्ट करने से बडी मूर्खता क्या हो सकती है।' और महाराज सभव ने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।

भगवान ने इस प्रकार का निश्चय किया, इतने में ही लोकान्तिक देवो ने आकर उनके विचार का समर्थन कर उन्हे पुष्ट किया। सभवनाथ के प्रव्रजित होने के समाचार चारो ओर फैल गये। उनका सन्यस्त होना भी एक उत्सव बन गया इन्द्रादि देवो ने यह समाचार पाकर भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया और भगवान 'सिद्धार्थ' नामक पालकी मे बैठकर तप मार्ग की की ओर चल पडे। उनकी पालकी श्रावस्ती नगरी के मध्य से

होकर सहस्राम् वन मे रुकी। सहस्राम् वन में पधार कर भगवान पालकी से उतर पडे और फिर सब वस्त्रालंकार त्याग दिये, बेला के तप मे—अनन्त सिद्धो को नमस्कार करके भगवान ने, सर्व सावद्य योग के त्याग रूप सयम को स्वीकार किया। दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्यंभ ज्ञान हुआ। भगवान के साथ ही, एक हजार राज परिवार के लोगो ने भी दीक्षा धारण की।

वे एकान्त मे ध्यानारूढ होकर आत्म चिंतन करते। ग्रीष्म की दोपहरियो मे वे तपती हुई शिला पर ध्यान लगाते। मुसला-धार वर्षा होती और झझावत चलते तब भगवान किसी वृक्ष के नीचे तप की साधना करते होते। इस प्रकार लगातार चौदह वर्षों तक वे कठोर साधना करते रहे।

एक दिन वे शालवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न थे, तभी उन्हे केवलज्ञान हो गया। वे सर्वदर्शी, सर्वज्ञ हो गये।

तीर्थंकर सभवनाथ का उपदेश सुनने के लिये समवशरण मे जनसमूह उमड पड़ता। उनके उपदेशों से लोगो को जीवन और जगत की समस्याओ के समाधान प्राप्त हो जाते। भगवान की दिव्यवाणी मन्त्रमुग्ध कर देती उन्होने कहा—'

'भव्य जीवो! जीव और जगत के वास्तविक स्वरूप को समझो! जिसने 'स्व' और 'पर' को जान लिया है, उसका कल्याण शीघ्र होगा। जड और चेतन का स्वभाव सर्वथा भिन्न है। भोगो के पीछे मत भागो। मोह से लिप्त मत होओ। अनासक्त होकर जीवन को जिओ। अपने आपको जान लिया तो सबको जान लिया। अपना कल्याण करो और दूसरो के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो।

सर्व दु.ख भजनी भगवान की वाणी से अनेक भव्य प्राणियों को ससार से विरक्त हो गयी और उन्होने भगवान से सयम स्वीकार किया।

इस प्रकार भगवान सभवनाथ अनेको वर्षों तक जग कल्याण के लिये उपदेश देते रहे। अन्त मे वे अपना निर्वाण काल समीप जानकर एक हजार मुनियो के साथ सम्मेद शिखर पर पहुंचे। वहा तीर्थंकरत्व की अन्तिम साधना पूर्ण करके मोक्ष प्राप्त किया।

चैत्र सुदी ५ को भगवान सभवनाथ निर्वाण पद को प्राप्त हुये ये जानकर इन्द्र तथा देवताओ ने आकर निर्वाण कल्याणक उत्सुव मनाया।

चतुर्थ तीर्थंकर

भगवान अभिनन्दन नाथ

अभिनन्दन चोथे तीर्थंकर थे । महाबल के जन्म मे उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी ।

पूर्वभव परिचय.—महाबल रत्नसचयपुर का राजा था । वो न्याय नीति में निष्णात, अर्हन्त धर्म का उपासक और दान-शील तप एव भाव से धर्म का सेवक था ।

भोग मे योग जन्म लेता है । समृद्धि मे विराग पनपता है । महाबल का मन भी भोगो मे नही रमा । वह सोचता—'यह पृथ्वी किसी की नही हुई । चक्रवर्ती की सम्पत्ति भी एक दिन नष्ट हो जाती है । यदि ससार मे सुख होता तो तीर्थंकर इसका त्याग क्यों करते ? मैं भी इस मोहमाया में नही फसू गा ।' उन्होंने सारा राज्य पुत्र को सौपकर स्वय सन्यस्त जीवन धारण कर लिया, उन्होंने विमलसूरि नामक आचार्य के पास दीक्षा ले ली और समिति, गुप्ति, सहित चारित्र की आराधना करने लगा । अनेक परीषहो को सहन करके तप सहित महाबल ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । यही महाबल जन्मातर मे तीर्थंकर अभिनन्दन नाथ हुये ।

वर्तमान परिचय.—अभिनन्दन का जन्म अयोध्या नगरी मे हुआ । उनके पिता का नाम सवर तथा माता का नाम सिद्धार्था था ।

जन्म —एक समय महारानी सिद्धार्था शयन कक्ष मे निद्रा॰लीन थी, उन्होंने तीर्थ कर के जन्म सूचक चौदह महास्वप्न देखे। प्रात काल स्वप्नो का फल महाराज सवर से पूछने पर उन्होंने बताया —'देवि ! तुम्हारी कुक्षि से एक महाबलशाली पुत्र जन्म लेगा। वो तीर्थ कर होगा।' यह सुनकर महारानी हर्षित हो उठी। उसी समय इन्द्रादि देवो ने यह समाचार पाकर गर्भ कल्याणक मनाया।

माघ सुदी २ को नौ मास सात रात बीतने पर महारानी सिद्धार्था ने एक अतिशय पुत्र को जन्म दिया। अभिनन्दन सा पुत्र पाकर वे कृतार्थ हुये। तीर्थंकर का जन्म हुआ जानकर, इन्द्रादि देवो ने सुमेरूपर्वत पर ले जाकर भगवान का जन्म कल्या-ण मनाया। सबकी सहमति स बालक का नाम अभिनन्दन रखा गया।

अभिनन्दन प्रजा के मनोरथो की तरफ बढ़ने लगे। उनकी बाल लीला भी विवेकपूर्ण होती। उनके खेल मे भी ज्ञान की खुशबू फैलती। अभिनदन युवा हुये, माता पिता ने अत्यन्त उत्-साह व समारोह के साथ उनका विवाह किया। एक दिन महा-राजा सवर को ससार से वैराग्य हो गया। उन्होंने, राजपाट अभिनन्दन कुमार को सौंप दिया और स्वय आत्म–कल्याण के लिये सयम में प्रवजित हो गये।

वैराग्य — भोग फल देने वाले कर्मो की निर्जरा के लिए महाराजा अभिनन्दन न्यायनीति पूर्वक राज्य करने लगे। अभि–नदन गृहस्थ जीवन को जल मे कमल की तरह भोग रहे थे। इस प्रकार काफी समय बीत जाने के बाद एक दिन भगवान सोचने लगे—'ये भोग कटार की धार पर लपेटी मधु की तरह हैं। मधु चाटा नही कि जीभ कटी नहीं। मुझे अब ससार व्यवहार से निकलकर, मोक्षाभिलाषी जीवों को मार्ग दर्शाने वाले धर्म

एवं तीर्थ की प्रवृति करनी चाहिये। उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके विचारों को पुष्ट किया।

और एक दिन महाराज अभिनंदन ने दीक्षा लेने के अपने निश्चय की घोषणा कर दी। समाचार पाते ही इन्द्र और देवों ने उपस्थित होकर भगवान का अभिषेक किया 'अर्थसिद्धा' पालकी पर सवार होकर अयोध्या के मध्य सहस्त्राम्र उद्यान मे पहुँचे। सहस्त्राम्र उद्यान मे, पालकी से उतरकर भगवान ने, वस्त्राभूषण त्याग कर एक हजार व्यक्तियों के साथ सर्व विरति चारित्र स्वीकार किया।

चारित्र स्वीकारते ही भगवान को मनःपर्यंभ ज्ञान हुआ। भगवान ने अट्ठारह वर्ष तक अनेक तप अभिग्रह और मौनादि करके तीर्थ करत्व की दुर्धर साधना की।

एक दिन सरल वृक्ष के नीचे ध्यान मे लीन थे, तभी उन्हे केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सर्वदर्शीसर्वज्ञ बन गये। भगवान को केवलज्ञान होते ही तीनों लोको में उद्योत हुआ। इन्द्रादि देवों ने भगवान की सेवा में उपस्थित होकर केवलज्ञान की महिमा की। यहीं पर समवशरण की रचना हुई। भगवान अभिनन्दन ने कल्याणकारिणी देशना दी। जहां भी उनका समवशरण लगता, अपार जनसमूह उनकी अमृत-वाणी को सुनने उमड़ पड़ता, जनभाषा मे जीवन और जगत के प्रश्नो पर भगवान अभिनन्दन के दिव्य उपदेश होते।

अन्त मे अपना निर्वाण काल समीप जानकर भगवान एक हजार मुनियो सहित सम्मेद शिखर पर पधारे। वहा शेष साधना पूर्ण की और चार अघातिया कर्मों को नष्ट करके वैसाख सुदी ४ को मोक्ष को प्राप्त हुये।

पांचवें तीर्थंकर

भगवान सुमतिनाथ

सुमतिनाथ पांचवें तीर्थंकर थे । पुरूषसिंह के जन्म में उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी ।

पूर्वभव परिचय :—विजयसेन पुष्कलावती नगर में राज्य करते थे । उनकी महारानी का नाम सुदर्शना था । एक समय बसन्त ऋतु में रानी सुदर्शना वन-क्रीड़ा के अभिप्राय से उद्यान में गई । वहा उन्होंने देखा कि वस्त्राभूषण पहने हुई एक वृद्धा बैठी है और दिक् कुमारियों की समानता करने वाली आठ रमणियां उस वृद्धा की सेवा कर रही हैं । पता लगाने पर रानी को मालूम हुआ कि यह वृद्धा, एक सेठ की पत्नी है और ये सेवा करने वाली आठ युवतियां इस वृद्धा की पुत्रवधू हैं ।

वृद्धा और उसकी पुत्र वधू का इस प्रकार परिचय पाकर रानी विचार मग्न हो गई—इस वृद्धा के भाग्य धन्य हैं जो पुत्र एव पुत्रवधुओ का सुख भोग रही है । मैं राज-रानी हू तो क्या पुत्रहीन होने के कारण हतभागिनी ही हू । दूसरे ही क्षण वह व्याकुल हो उठी । निःसतान होने का उसे बड़ा गम हुआ । अब वह मौन न रह सकी । उसने अपनी चिंता महाराजा विजय-सेन से निवेदित कर दी ।

विजयसेन ने तब विचार कर कुलदेवी की आराधना की देवी प्रसन्न हो गयी । उसने कहा—'भद्र ! तुम्हारे यहा अतिशय पुण्यशाली पुत्र होगा ।'

समय पाकर रानी ने भाग्यशाली पुत्र प्रसव किया। राजा विजयसेन ने पुत्रजन्मोत्सव मनाकर, बालक का पुरुषसिंह नाम रक्खा। तथापि किशोर से युवा होने पर पुरुषसिंह का कई राजकन्याओ के साथ विवाह हुआ।

एक समय पुरुषसिंह उद्यान में गया। वहां उसे विनय-नन्दनसूरि नाम के महात्मा के दर्शन हो गये। कुमार पुरुषसिंह ने महात्मा का उपदेश श्रवण किया जिससे उसे ससार से वैराग्य हो गया। उसने जिन-दीक्षा ले ली। तीर्थंकरत्व नाम कर्म का उपार्जन कर यही पुरुषसिंह जन्मान्तर मे तीर्थंकर सुमतिनाथ बना।

वर्तमान परिचय —उस समय अयोध्या नगरी मे ईक्ष्वाकु-वशीय राजा मेघरथ राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम मगला था।

जन्म —पुरुषसिंह का जीव अपना आयुष्य विता कर महा-रानी मंगला के गर्भ मे आया, उस समय महारानी मगला सो रही थी। उन्होने तीर्थंकर के गर्भ मे आने की सूचना देने वाले चौदह स्वप्न देखे। राजा मेघरथ से स्वप्नफल पूछने पर उन्होने बताया—'भद्रे! स्वप्न के प्रभाव से, तुम्हारे कुक्षि से जगत पूज्य तीर्थंकर पुत्र होगा।' यह सुनकर महारानी की प्रसन्नता का पारावार न रहा।

उन्ही दिनो की बात है। एक सेठ व्यापारी की दो पत्नियों मे से एक ने पुत्र पैदा किया तथा दूसरी नि सन्तान थी। यह पता लगना मुश्किल था कि बालक की वास्तविक माता कौन है। सेठ व्यापार के लिये विदेश गया, दुर्भाग्य से उसकी वहीं पर मृत्यु हो गयी। सेठानिया यह समाचार सुनकर दु.खी हुई। नि.सन्तान सेठानी के मन मे पाप उपजा। उसने पुत्र और सपति

को हड़पने के लिए दोनों पर अपना अधिकार जताया। बात राजा मेघ के पास पहुँची। महाराजा मेघरथ ने बहुत विचार किया परन्तु कोई निर्णय नही कर पाये। राजा चिंतित से महल मे पहुँचे।

राजा को सुमगला ने चिन्तित देखा। राजा ने सारी बात कह सुनाई। गर्भ-प्रभाव से निर्मल बुद्धिवाली रानी ने कहा —महाराज स्त्रियो का न्याय तो स्त्री ही सरलता पूर्वक कर सकती है।

सुमगला ने दोनो सेठानियो को बुलवाया रानी ने उन दोनों स्त्रियो से कहा कि—'मेरे गर्भ मे तीन ज्ञान के धारक तीर्थकर है, वो जन्म लेकर इस बात का फैसला करेगा। तब तक इस बालक को मेरे पास रहने दो।' रानी की बात विमाता ने तुरन्त स्वीकार कर ली लेकिन वास्तविक मा आकुलित हुई। उसने रानी से कहा—'नही—नहीं मुझे यह शर्त स्वीकार नही।' उसके पुत्र प्यार को राजसी लोभ भी न लुभा सका।

सुमगला स्थिति को समझ गयी कि वास्तव मे पुत्र इसी का है, रानी ने तत्क्षण उसका पुत्र उसे दिलवा दिया। रानी का न्याय देखकर सभा के लोग दग रह गये। तथा रानी व गर्भस्थ शिशु की प्रशसा करने लगे।

नव मास पूर्ण होने पर महारानी मगला ने वैसाख सुदी ८ के शुभ मुहूर्त मे स्वर्ण वर्णी पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रादि देवो ने आकर उसका जन्म कल्याण मनाया। महाराजा मेघरथ ने, पुत्र जन्मोत्सव करके, पुत्र का नाम, गर्भवती रानी की बुद्धि निर्मल हो गयी थी इस बात को दृष्टि मे रखकर सुमतिकुमार रखा।

कुमार सुमति सुख पूर्वक बढने लगे। भोगफल भोगने के लिये, माता-पिता के आग्रह से भगवान ने, अनेक सुन्दर राज-

कन्याओ के साथ विवाह किया और सुख पूर्वक रहने लगे। पश्चात् पिता के आग्रह करने पर राज-भार ग्रहण किया। उनकी लोकप्रियता दिन-दूनी बढने लगी। सुमति-सा प्रजावात्सल राजा पाकर लोग सुख पूर्वक जीवन बिताने लगे।

वैराग्य :—महाराज सुमति का मन राज्य मे न लगा। भोग फल समाप्त होने को जान स्वय बुद्ध भगवान ने राज-पाट त्याग दिया और चारित्र स्वीकार करने के लिये 'अभयकर' पालकी मे आरूढ हो दीक्षा लेने के लिये उद्यान में पधार गये और विधिपूर्वक एक हजार राज-परिवार के सदस्यो सहित दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ।

दीक्षा लेकर भगवान अयोध्या से विहार कर गये। वे बीस वर्ष तक छद्मास्थावस्था मे विचरते रहे। वे कठोर से कठोर नियम लेते। ग्रीष्म की तपन उन्हे विचलित नही कर पाती। मूसलाधार वर्षा व तूफानो से वे डिग नही पाते।

एक दिन सहस्त्राम्रबन मे प्रियु ग वृक्ष के नीचे वे शुक्लध्यान में लीन थे। तभी उनके ज्ञान का सम्पूर्ण आवरण हट गया, वे कायोत्सर्ग करके क्षपक श्रेणी द्वारा घातिक कर्म नष्ट करके अनन्त केवल ज्ञान को प्राप्त कर गये। वे अब पूर्ण अर्हन्त थे। भगवान को केवल ज्ञान हुआ यह जानकर इन्द्रादि देवता केवल ज्ञान कल्याणक करने को उपस्थित हुये। समवशरण की रचना हुई। भगवान सुमति नाथ की अमृत वाणी को सुनने के लिये समूह उमड पडा। जैसे चकोर चन्द्रकिरणो का पान करता है जैसे चातक मेघ को ओर सतृष्ण देखता है वैसे ही कल्याण के इच्छुक प्राणी भगवान के उपदेश को श्रवण कर रहे थे।

'हे, भव्य आत्माओ! यह प्राणी अज्ञान वश ही अनेक योनियो मे फसता है। अगर अज्ञान का पर्दा हट जाये तो कल्याण की

राह दिखाई देगी। अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप है।'

इस प्रकार अनेक वर्षों तक भगवान सुमतिनाथ धर्मामृत को लोगों के बीच बांटते रहे। वे अपना निर्वाण काल समीप जानकर एक हजार मुनियो सहित सम्मेद शिखर पर पहुँचे। वहां ध्यान मग्न हो शेष साधना पूर्ण की। तथा चैत्र सुदी ९ को मोक्ष प्राप्त किया।

छठवें तीर्थंकर

भगवान पद्मप्रभु

पद्मप्रभु छठे तीर्थंकर थे। अपराजित के जन्म में उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय — अपराजित सुसीमा नगरी के शासक थे। न्यायनिष्ठा और धर्म की सदैव पालना मे तत्पर, शासन में न्याय व नीति का पोषक महाराजा अपराजित के राज्य मे प्रजा सुखी जीवन व्यतीत करती थी।

एक बार राजा अपराजित ने विचार किया कि—'संसार नश्वर है, ये राज्य और ये साधन स्थाई नही। संसारासक्त प्राणी धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुरुष आदि का त्यागना कठिन मानते है लेकिन अशुभ कर्मों के उदय से, कभी कभी वे ही प्राणी दुर्दशा को प्राप्त हो जाते हैं अथवा आयु समाप्त हो जाने से परलोक के पथिक बनते हैं और इन दोनों दशाओं मे यह संसारिक भोग सामग्री छूट जाती है। इससे तो अच्छा यही है कि स्वेच्छा से इन्हें त्याग देना चाहिये।'

इस प्रकार के विचारो से अपराजित राजा को संसार से विरक्ति हो गई। उसने राजपाट त्याग कर, सर्व विरत चारित्र स्वीकार कर लिया। अन्त मे तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया।

यही अपराजित जन्मांतर में तीर्थंकर पद्मप्रभु हुए।

वर्तमान परिचय —भरत क्षेत्र मे कोशाम्बी नाम की एक

नगरी थी। कौशाम्बी मे श्रीधर नामक बलवान राजा राज्य करते थे, उनकी पटरानी का नाम सुसीमा था। सुसीमा देवकन्या सी सुंदरी, शीलादि गुणों से विभूषित और पतिपरायण थी। एक समय रात्रि मे महारानी सुसीमा शय्या पर सोई हुई थी कि उनकी पलको पर चोदह सुहाने सपने तैर उठे। पति द्वारा स्वप्नो का फल सुनकर कि—'तुम्हारे तीर्थंकर पुत्र होगा।' महारानी सुसीमा को बहुत हर्ष हुआ।

जन्म — गर्भवती महारानी सुसीमा को एक दिन पद्मशय्या पर शयन करने की इच्छा हुई, देवताओ ने उनकी यह इच्छा पूर्ण की।

नव मास समाप्त होने पर महारानी सुसीमा ने कातिक वदी १९ पद्म के रग और निकलते हुये सूर्य की लालिमा को लज्जित करने वाले पद्म के लक्षण से युक्त, तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। भगवान का जन्म हुआ जानकर इन्द्रादि देवो ने सुमेरूपर्वत पर ले जाकर भगवान का जन्म कल्याण मनाया। बालक का नाम पद्म कुमार रखा गया। मातापिता की आशा-आकाक्षाओं की तरह पद्मप्रभु बढने लगे।

अनेक देव-देवियो मे सेवित पद्मकुमार युवावस्था को प्राप्त हुये। पुण्य प्रकृति को क्षय करने के लिये पद्मकुमार ने माता-पिता के आग्रह से अनेक राज्यकन्याओ का पाणि ग्रहण किया और सुखपूर्वक रहने लगे। वे राज्य कार्य सभालने लगे। वे समस्त प्रजा के आंखो के तारे बन गये। पद्म महाराजा की नीति तथा न्याय से सम्पूर्ण प्रजाजन प्रसन्न रहते थे। पद्म थोडे ही समय मे अत्याधिक लोकप्रिय हो गये।

वैराग्य:— इस सबके बाद भी पद्म भोगो मे आसक्त नहीं थे। एक दिन उन्होने धर्म तीर्थ प्रवंताने का निश्चय किया, उनका मन आत्मकल्याण और जन कल्याण के लिये व्याकुल

हो उठा। पद्मप्रभु देवो द्वारा सजाई हुई 'सुखकारिणी पालकी मे विराजे । निकट के उद्यान मे पालकी से उतरकर भगवान ने वस्त्रालकार त्यागकर, एक हजार राजाओ के साथ त्याग रूप सयम को अपना लिया ; उसी समय भगवान को, मन पर्यय ज्ञान हुआ।

दीक्षा लेकर भगवान, उद्यान से विहार कर गये । छह मास तक पद्मप्रभु मुनि कठोर तपस्या करते रहे। एक दिन वे कौशाम्बी के निकट के उद्यान मे ही वटवृक्ष के नीचे ध्यान लगाये हुये थे, शुक्लध्यान की अग्नि मे घातिया कर्मो को नष्ट कर डाला। वे केवलज्ञानी हो गये।

आसन कापने से भगवान को केवलज्ञान हुआ जान चौसठ इन्द्र व असख्य देवो ने आकर केवल ज्ञान महोत्सव किया । समवशरण की रचना हुई, जिसमें पद्मप्रभु भगवान के धर्मोपदेश होने लगे। भगवान ने कल्याणकारी उपदेश दिया–'भव्य जीवो ! यह आत्मा अनन्त है, गुणो की धारक है । अपने गुणो का विकास कर महात्म को प्राप्त होता है। 'पर' से कर्म बंध होता है, राग रहित मुक्ति कर्मबन्धन से बच जाता है, वह वीतरागता की ओर उन्मुख होता है। जिसने इस वीतरागता को प्राप्त कर लिया, वह ससार- समुद्र से तर गया ।'

तीर्थंकर पद्मप्रभु की यह धर्मदेशना नगर-नगर और ग्राम ग्राम तक पहुंची । अनेक स्त्री-पुरुषो ने मुनिधर्म स्वीकार किया।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर पद्मप्रभु भगवान तीन सौ आठ मुनियो सहित सम्मेद शिखर पर पहुंचे। वहा एक मास का अनशन करके तीर्थंकरत्व की अन्तिम साधना पूर्ण की और शुद्ध ध्यान द्वारा अघातिया कर्मो को नष्ट किया और मगसिर सुदी ११ को सिद्ध गति प्राप्त की।

सातवे तीर्थ कर

भगवान सुपार्श्व नाथ

सुपार्श्वनाथ सातवे तीर्थ कर थे । नन्दिसेन के जन्म मे उन्होने तीर्थ करत्व की साधना की थी ।

पूर्वभव परिचय – पूर्व महा विदेह क्षेत्र मे क्षेमपुर नाम का नगर था । वहा नन्दिसेन राजा राज्य करते थे । कुशल शासक व प्रजापालक होने के साथ-साथ वो धर्म प्रिय भी था । उसका राज्य सम्पूर्ण खुशियो से परिपूर्ण था, कहीं कोई आतक या भय नही था । सब सुखी थे, समृद्ध थे ।

एक दिन राजा नन्दिसेन आचार्य अरिदमन का प्रवचन सुन रहा था—'प्रमाद व्यक्ति का सबसे बडा शत्रु है । प्रमाद ही पाप की जड है । प्रमादी के लोक और परलोक दोनो बिगडते है । अहिंसा की साधना प्रमाद के बिना ही हो सकती है । जो प्रमाद-रहित है, वह कर्म–बन्धन को प्राप्त नही होता ।"

आचार्य अरिदमन का उपदेश सुनकर नन्दिसेन को वैराग्य हो गया । उसने मुनि दीक्षा ले ली । वह साधु की तरह कठिन तपस्या करने लगा । अपनी तपस्या के परिणाम स्वरूप उसने तीर्थ करत्व का लाभ प्राप्त किया । अन्त मे आराधिक पद को प्राप्त कर, अनशन द्वारा शरीर त्याग, छठी ग्रेवेयक मे अट्ठाइस सागर की स्थितिवाले देव हुए । यही नन्दिसेन जन्मान्तर मे तीर्थ कर सुपार्श्वनाथ हुए ।

वर्तमान परिचय – भरतार्द्ध क्षेत्रान्र्तगत काशी देश में

वाणारसी नाम की एक स्वर्गपुरी-सी नगरी थी। वहाँ प्रतिष्ठसेन राजा राज्य करता था। प्रतिष्ठ सेन की रानी का नाम पृथ्वी था।

जन्मः — छठ्ठी ग्रैवेयक का आयुष्य पूर्ण करके नन्दिसेन का जीव महारानी पृथ्वी के उदर मे आया।

महारानी पृथ्वी, उस समय सो रही थी। उन्होंने, गज वृषभादी तीर्थ कर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नो का फल सुनकर महारानी पृथ्वी बहुत आनन्दित हुई और गर्भ का पोषण करने लगी।

गर्भकाल समाप्त होने पर जेष्ठ सुदी ४ महारानी पृथ्वी ने स्वस्तिक के चिन्ह वाले स्वर्ण वर्णी अनुपम सौदर्य वाले पुत्र को जन्म दिया। तत्काल दिक्कुमारियाँ उपस्थित हुई और इन्द्रादि देवों ने, सुमेरूपवत पर जाकर जन्मकल्याण-महोत्सव किया।

प्रतिष्ठसेन राजा ने, पुत्र जन्मोत्सव मना कर, बालक का श्री सुपार्श्वकुमार नाम रखा। सुपार्श्व ने अपने पूर्व जीवन मे तीर्थंकरत्व की साधना की थी, इसलिये जन्म से ही वे अत्यन्त प्रबुद्ध और तेजस्वी थे। अनेक दास दासियो से सेवित भगवान, युवावस्था को प्राप्त हुये, बड़े होने पर माता पिता ने समारोह-पूर्वक सुपार्श्व का विवाह किया और राज्य का दायित्व सोपा। अपनी पत्नियो के साथ सुपार्श्व कुमार आनन्द से रहने लगे। महाराज सुपार्श्व का बुद्धि-वैभव अद्भुत था। उनकी नीति निपुणता प्रशस्य थी। उनका प्रजा वात्सल्य श्लाघ्य था। उनके शासन मे सभी सुख पूर्वक निवास करते थे।

वैराग्य — राज्य सचालन करते हुये भी सुपार्श्व का जीवन सात्विक और धर्मनिष्ठ था। एक दिन उन्होंने अपने पूर्व जीवन की ओर दृष्टिपात किया। उन्हे अपने नन्दिसेन के जन्म की सारी घटनाये याद आयी। वे सोचने लगे कि अब मुझे सयम

लेकर भावना मे लगना चाहिये। तब लोकान्तिक देवो ने उपस्थित होकर धर्म और तीर्थ प्रवर्ताने की प्रार्थना की। उन्होने अपने विचार परिजनो मे व्यक्त किये। परिजनो से बात पुरजनो तक पहुंची दूर दूर तक सुपार्श्व के प्रव्रजित होने की बात फैल गयी। उन्होने नगर के निकटस्थ आम्रवन मे जाकर दीक्षा लेने की ठानी। इन्द्र तथा असंख्य देव उनका दीक्षाकल्याण मनाने के लिये उपस्थित हुये। उन्होने भगवान को अभिषेक सहित वस्त्राभूषण से अलकृत करके, मनोहरा नाम की पालकी मे बिठाया। पालकी पर सवार भगवान आम्रवन मे पधारे। वन मे पहुंचकर भगवान पालकी से उतर पडे और शरीर से वस्त्रालकार त्याग सहस्त्र राजाओ के सग सयम मे प्रव्रजित हो गये। तत्क्षण भगवान को मन.पर्यय ज्ञान हुआ।

दूसरे दिन पाटलीखन्ड नगर मे भगवान का बेले का पारणा हुआ। देवो ने पचाश्चर्य प्रकट करके दान की महिमा की। पारणा करके भगवान, अन्यत्र विहार कर गये।

मुनि सुपार्श्व नौ मास तक विभिन्न प्रकार के तप करते रहे। एक दिन वह शिरीषवृक्ष के नीचे ध्यान में लीन थे। उसी समय उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे तीर्थकर सुपार्श्वनाथ हो गये। उनकी धर्मसभाओ का आयोजन होने लगा। भगवान सुपार्श्व प्रभु के विदर्भ आदि पचानवें गणधर थे। तीन लाख मुनि थे। चार लाख तीस हजार साध्विया थी। दो लाख सत्तावन हजार श्रावक थे और चार लाख मानवे हजार श्राविकाये थी।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर, पाच सो मुनियो सहित भगवान, सम्मेद शिखर पर पधार गये। वहा, एक मास का अनशन करके भगवान, फागुन वदी ७ को अघातिक कर्मक्षय कर, शाश्वत गति को प्राप्त हुये।

———

आठवे तीर्थंकर

भगवान चन्द्र प्रभु

चन्द्रप्रभु आठवें तीर्थंकर थे। महाराजा पद्म के भव मे इन्होने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय.— महाराज पद्म मंगलावती नगरी के शासक थे। वे एक सफल राजनेता थे। उनकी रत्न सचया नाम की नगरी थी। पद्म राजा, सासारिक सुख भोगने के साथ ही धर्म-सेवा मे भी तत्पर रहता था और तत्ववेत्ता भी था। महाराज पद्म राज्य मे तीव्र आसक्त न थे। उनका मन भोग भोगते हुये भी उदासीन रहता। एक बार युगन्धर मुनि के पास गये वहा उनका उपदेश हो रहा था—'यदि हमारे जन्मो के चित्र हमारी आखो के सामने उतर आये तो हम एक क्षण भी भोगो मे रमे नहीं रह सकते। उनकी नि सारता जान तत्काल मुनि-दीक्षा ले लें और ऐसे सुख को पाने का प्रयत्न करे जो सर्वथा निराकुल हैं, स्वाश्रित है, स्थायी है।'

मुनिराज का उपदेश सुनकर महाराज पद्म विरक्त हो गये। इन्होने मुनि-दीक्षा ले ली। अनेक प्रकार से तपस्या करने लगे। निर्मल सम्यकदर्शन प्राप्त कर उन्होने तीर्थंकरत्व की सोलहकारण भावनाओ की आराधना की। यही पद्म जन्मातर मे तीर्थंकर चन्द्रप्रभु हुये।

वर्तमान परिचय—भरत क्षेत्र के मध्य खन्ड मे चन्द्रपुरी नाम की रमणीय नगरी थी। वहा पर, महासेन नाम का राजा

राज्य करता था। महासेन की रानी का नाम लक्ष्मणा था, जो बहुत रूपवती थी।

जन्म —विजयन्त विमान का आयुष्य भोग कर, पद्मराजा का जीव महारानी लक्ष्मणा के गर्भ मे आया। महारानी लक्ष्मणा अपनी शय्या पर सोई हुई थी। तीर्थंकर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। महारानी लक्ष्मणा ने महाराजा महासेन से स्वप्नो का फल पूछा। महाराजा महासेन ने स्वप्नो का विचार करके कहा कि तुम्हारे गर्भ से, त्रिलोक पूज्य उत्कृष्ट पुत्र जन्म लेगा। महारानी यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। गर्भ-काल समाप्त होने पर महारानी लक्ष्मणा ने पौष वदी १२ मोती की प्रभा और कांति को लज्जित करने वाले, चन्द्र की कांति से भी उज्ज्वल, चन्द्र के लक्षणयुक्त पुत्र को जन्म दिया। आसन-कम्पादि से तीर्थंकर का जन्म हुआ जानकर दिक्कुमारियां, इन्द्र और देवगण उपस्थित हुये तथा भगवान का जन्मकल्याणो-त्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को गये।

दूसरे दिन महाराजा महासेन ने, पुत्र जन्मोत्सव मनाया। गर्भवत लक्ष्मणा को चन्द्रपान करने की इच्छा हुई थी तथा बालक की कान्ति चन्द्र से भी अधिक है, इन बातों को दृष्टि में रखकर, बालक का नाम चन्द्रप्रभु रखा गया। सबने सहमति प्रकट की। बालक का नाम चन्द्रप्रभु चन्द्रमा की कलाओ की तरह ही दिन-प्रतिदिन बढने लगे। माता पिता के आग्रह से, अपने भोगफल वाले कर्म शेष जानकर चन्द्रप्रभु ने अनेक राज-कन्याओ का परिग्रहण किया। पत्नियो के साथ भगवान आनन्द से रहने लगे। कुछ समय बाद ही महाराज महासेन ने राजपाट चन्द्रप्रभु को सौंप दिया और स्वयं आत्मकल्याण के लिये संयम मे प्रव्रजित हो गये।

वैराग्य — चन्द्रप्रभु को अपने पूर्व जन्मो का ज्ञान था।

उन्हे अपनी तीर्थंकरत्व की साधना का भी स्मरण था। तथापि काफी लम्बे काल तक राज्य करने के पश्चात भगवान ने विचार किया कि 'अब' मेरे भोगफलकर्म शेष नही हैं, इसलिये मुझे धर्म तीर्थ प्रवर्तना चाहिये, इतने मे ही लोकान्तिक देवो ने उपस्थित होकर प्रार्थना की कि—'हे प्रभो, अब चार तीर्थ की प्रवृति करने का समय आ गया है।' चद्रप्रभु ने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया, पुर—परिजनो ने उनसे बहुत आग्रह किया कि वे राज्य कार्य सम्भाले रहे, किंतु जिसे मोक्ष का अविनाशी राज्य बुला रहा हो, वह इन सासारी भोगो मे कैसे रम सकता है।

चन्द्रप्रभु का निष्क्रमणोत्सव मनाने इन्द्रादि देव उपस्थित हुये। वे मनोरमा पालकी मे विराजकर चन्द्रानना नगरी के मध्य होकर आम्रवन मे पधारे। वहा भगवान ने वस्त्रालकार त्याग कर एक सहस्त्र राजाओ सहित सयम स्वीकार कर लिया। सयम स्वीकार करते ही भगवान को मन.पर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ।

सयम लेकर भगवान, चद्रानना नगरी के उद्यान से विहार कर गये। दूसरे दिन पद्मखण्ड नगर के सोमदत्त राजा के यहा भगवान का पारणा हुआ। देवताओ ने पचाश्चर्य प्रकट करके दान की महिमा की।

चारित्र की पूर्णतया आराधना एव कर्मो की निर्जरा करते हुये भगवान चद्रप्रभु, तीन महीने तक छद्मस्थ अवस्था मे विचरे। विचरते हुये भगवान चद्रप्रभु उसी उद्यान मे प्रियुग वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न थे, तभी उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे सर्वदर्शी—सर्वज्ञ हो गये। भगवान को केवल ज्ञान हुआ है ये जानकर इन्द्रादि देवो ने आकर उनका केवल ज्ञान महोत्सव किया। तीर्थंकर चन्द्रप्रभु की सभाओ का आयोजन होने लगा, वे प्राणिमात्र के लिये धर्मोपदेश देने लगे। अनेक वर्षों तक ग्राम और

नगरो मे उनकी सभाओ का आयोजन हुआ और अगणित प्राणियो ने उनके दिव्य उपदेश सुनकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

भगवान के दत्त आदि ग्यानवे गणधर थे। तीन लाख अस्सी हजार साध्विया थी। ढाई लाख श्रावक थे और चार लाख इक्यान्वें हजार श्राविकायें थी।

भगवान ने, चौबिस पूर्वांग और तीन माह कम एक लाख पूर्व केवली पर्याय मे रहकर, अनेक जीवो का उद्धार किया। अन्त मे अपना निर्वाणकाल समीप जानकर, भगवान एक सहस्त्र मुनियो सहित, सम्मेद शिखर पर पधारे। भादवा वदी ७ को सम्मेद शिखर पर अनशन करके, तीव्रध्यान द्वारा भगवान ने चार अघातिया कर्मों का क्षय किया और सिद्ध गति को प्राप्त हुये।

नौवें तीर्थंकर

भगवान सुविधि नाथ (पुष्पदन्त)

सुविधिनाथ नवें तीर्थंकर थे। इनका एक नाम पुष्पदन्त भी था। महापदम के जन्म मे इन्होने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय — महापद्म पुष्कलावती विजय मे पुन्डरीकिणी नगरी के शासक थे। वहा का राजा महापद्म राज्य-कार्य सम्भालते हुये भी जीवन की वास्तविकताओ को अच्छी तरह समझता था। आत्मस्वरूप का उन्हे सम्यक ज्ञान प्राप्त था। यही कारण था कि वो शासन मे विशेष आसक्त न थे।

महापद्म एक बार जगन्नन्द मुनिराज के दर्शन हेतु गये, वहा उनका उपदेश हो रहा था—'मनुष्य सोचता है अभी यौवनावस्था का आनन्द ले लें जब वृद्धावस्था आयेगी तब धर्म-साधना करेंगे। वो हर बार इसी बात को दोहराता है परन्तु मृत्यु किसी को कहकर नही आती। आ गयी तो एक क्षण का विलम्ब भी नही होगा फिर सब आशायें. इच्छाये वैसी की वैसी ही रह जायेगीं इसलिये आत्म-साधना में विलम्ब अनुचित है, हानिकारक है।'

महामुनि का उपदेश सुनकर—महापद्म विरक्त हो गये। उन्होने मुनिदीक्षा ले ली। मुनिराज ने सोलहकारण भावनाओ का स्वरूप जाना और तीर्थंकरो के चरित्र सुने आत्म साधना की विभिन्न प्रक्रियाओ को समझकर तपस्या में लग गये। उन्होने विभिन्न प्रकार के तप किये। इसी साधना के फलस्वरूप

उन्होंने तीर्थ करत्व का उपार्जन किया। जन्मान्तर मे यही महा-पद्म तीर्थ करत्व सुविधिनाथ हुये।

वर्तमान परिचय —भरतार्द्ध के मध्य खण्ड मे मरु देशान्तर्गत काकन्दी नाम की एक नगरी थी। वहा सुग्रीव नाम का राजा राज्य करता था। सुग्रीव की रानी का नाम रामादेवी था, वो सौंदर्य की मूर्ति और पतिभक्ति की साक्षात प्रतिमा थी।

जन्म — महापद्म का जीव, आनन्त कल्प का आयुष्य पूर्ण कर जब महारानी रामा के उदर मे आया, महारानी रामा उस समय शयन कर रही थी। तीर्थंकर के गर्भसूचक चौदह महास्वप्न उनकी स्वप्नपक्ति पर उतर आये। महाराजा सुग्रीव से स्वप्नफल सुनकर वो बहुत प्रसन्न हुई और गर्भ का यत्नपूर्वक पोषण करने लगी। नवमास समाप्त होने पर मगसर वदी १२ को महारानी रामा ने श्वेत वर्णी पुत्र को जन्म दिया। आसन कम्प से, भगवान का जन्म हुआ जान छप्पन दिक्कुमारिया उपस्थित हुई, उधर चैसठ इन्द्र व असख्य देव-देवी सुमेरू गिरि पर उपस्थित हुये तथापि उन्होने माता रामा महारानी को निद्रा मे निद्रित कर भगवान बालजिन को सुमेरू पर्वत पर लाये। इन्द्र आदि देवताओ ने भगवान का जन्मोत्सव किया,। पश्चात भगवान को लाकर माता के पास लिटा दिया।

बालक जिन के नामकरण का समय आया तो पिता सुग्रीव ने कहा—'गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद हुआ था, इस-लिये बालक का नाम सुविधि रखा जा सकता है।' उन्होने यह भी कहा—'कि जब बालक गर्भ में था तो माता सब विधियो मे कुशल रही इसलिये इसका नाम सुविधि रखा जा सकता है। बालक सुविधि, पुष्पदन्त हो गया।

माता पिता की इच्छाओ की तरह सुविधि बडे होने लगे। पिता सुग्रीव व माता रामा महारानी ने आग्रह पूर्वक भगवान

के साथ अनेक राज्य कन्याओ से विवाह करा दिया। पुण्य कर्मो को समाप्त करने के लिये भगवान सुविधिकुमार पत्नियो के साथ आनन्द से रहने लगे। वे राज्य-कार्य सम्भालने लगे। थोडे समय मे वे बहुत जनप्रिय हो गये। उनका यश दूर दूर तक फैल गया। सुविधि का सान्निध्य सभी को सुखकर लगता था।

वैराग्य — सुविधिनाथ अनेक वर्षों तक राज्य-कार्य करते रहे। पारिवारिक जीवन का अलिप्त भाव से उपभोग किया। एक समय उन्होने ससार त्याग की इच्छा व्यक्त की। उसी समय लोकान्तिक देवो ने उपस्थित होकर भगवान से धर्म एव तीर्थ प्रवर्ताने की प्रार्थना की। भगवान सुविधिनाथ ने. राजपाट त्याग कर, वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया। वर्ष की समाप्ति पर इन्द्र और देवो ने भगवान का निष्क्रमणोत्सव किया। भगवान सूर्यप्रभा नामक पालकी मे सवार हो काकदी नगरी के मध्य होते हुये, उद्यान मे पधारे। वहा उन्होने एक हजार राजाओ के साथ सयम स्वीकार कर लिया। सयम स्वीकार करते ही भगवान को मन.पर्यय ज्ञान हुआ।

दीक्षा लेकर भगवान काकदी के उद्यान से विहार कर गये। दूसरे दिन श्वेतपुर नगर मे पुष्प राजा के यहा, प्रभु का पारणा हुआ, देवो ने पंचाश्चर्य प्रकट कर दान की महिमा की। सग-रहित एव ममत्व रहित भगवान अनेक परीषह सहन करते हुये चार मास तक छद्मस्थ अवस्था मे विचरे। एक दिन उद्यान में वे मालूर वृक्ष के नीचे ध्यान मग्न थे। उनकी तपस्या पूर्ण हो रही थी। उन्होने अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया। अपने मे अपना ध्यान लगाया। सभी इन्द्रियो और मन को पूर्ण रूप से वश मे कर लिया। वे परमयोग मे लीन हो गये। शुक्ल ध्यान में आरूढ हो, क्षपक श्रेणी द्वारा, प्रथम मोहकर्म की प्रकृतियो को और पश्चात ज्ञानावरणीय आदि कर्मो को नष्ट कर

सुविधिनाथ ने विशुद्ध केवल ज्ञान प्राप्त किया। देवो तथा इन्द्रो ने केवल ज्ञान महोत्सव मनाया। वे सर्वज्ञ हो गये। सुविधिनाथ से तीर्थंकर सुविधिनाथ हो गये।

तीर्थंकर सुविधिनाथ की समवशरण सभाओ का आयोजन होने लगा। प्राणिमात्र के कल्याण के लिये उनके धर्मोपदेश होने लगे। विभिन्न नगरो मे उनको धार्मिक सभाओ का आयोजन होता। अपार जन समूह उनके दर्शनार्थ उमड पडता। बहुतों ने उनका उपदेश सुनकर सयम तथा कईयो ने श्रावक व्रत एव सम्यक्त्व स्वीकार किया।

भगवान सुविधिनाथ के वाराह आदि अठ्ठासी गणधर थे। दो लाख मुनि थे। एक लाख बीस हजार साध्विया थी। दो लाख उन्तीस हजार श्रावक थे और चार लाख बहत्तर हजार श्राविकायें थी।

अपना निर्वाण काल समीप जानकर भगवान एक सहस्त्र मुनियो सहित सम्मेद शिखर पर पधारे। भादवा वदी ९ को वहा अनशन कर शेष साधना पूर्ण की तथा मोक्ष प्राप्त किया।

दसवें तीर्थंकर

भगवान शीतल नाथ

शीतलनाथ दसवे तीर्थकर थे। पद्योत्तर के जन्म में उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभवपरिचय.—महाविदेह क्षेत्र की सुसीमा नामक नगरी में पद्योत्तर नाम का प्रतापी और धर्म मे श्रद्धा रखने वाला राजा राज्य करता था। राज काज करते हुये भी उसका चित्त सर्वथा इन भोगो से विरक्त रहता था। उन्होने आचार्य स्रस्ताघ से धर्म के स्वरूप को सुना। आचार्य की तपस्या और उपदेश का उनके मन पर बहुत असर हुआ। उन्होने मुनि दीक्षा ले ली और स्वय भी साधना करने लगे। सरल मन और निर्मल परिणामो के कारण उनकी साधना प्रशस्त रूप से चलने लगी। सयम का निरतिचार पालन और शास्त्रोक्त बीस बोल मे से कतिपय बोल की आराधना करके पद्योत्तर ने तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन किया और यही पद्योत्तर जन्मातर मे तीर्थकर शीतल नाथ हुये।

वर्तमान परिचय.—भरत क्षेत्र में, भद्दिलपुर नाम का एक रमणीय नगर था। वहा के पराक्रमी राजा का नाम दृढरथ था। दृढरथ की रानी का नाम नन्दा था जो समस्त स्त्रियोचित्त गुण से पूर्ण थी।

जन्म —एक दिन महारानी नन्दा ने तीर्थंकर गर्भसूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नफल जानकर वो और भी हर्षित हो

उठी। इसी बीच महाराजा दृढरथ को दाहज्वर हुआ। सारा शरीर तवे की तरह तपता, अंग-अंग मे दाह होती। राजवैद्य ने कई तरह के उपचार किये। दृढरथ के शरीर पर चन्दन का लेप किया गया। कपूरादि को मिलाकर औषधि तैयार की गई। पुष्पशय्या पर लिटाया गया पर सब व्यर्थ। जितना उपचार किया जाता, उतनी ही पीड़ा बढती जा रही थी। महारानी नन्दा राजा के दाहज्वर का उपचार न हो पाने से बहुत दुखी हुई, उसने वैद्यो कोबुलाकर प्रताड़ित भी किया, राजवैद्य समझ नही पा रहे थे कि क्या किया जाये। महारानी की आज्ञा से महाराज के शरीर से सभी औषधियो के लेप हटाये गय। पुष्पशय्या भी हटा दी गई। महाराज सामन्य दिनो की तरह सफेद चादर बिछे बिस्तर पर लेटे। महारानी उपासनागृह से सीधी महाराज के पास पहुँची वह उनके निकट बैठ गयी। तथापि अपना दाया हाथ महाराज के वक्ष पर रख दिया और स्निग्ध मधुर स्वर मे बोली—'प्रिय, मेरी सम्पूर्ण शीतलता आपको प्राप्त हो जाये।'

महाराज ने एक अद्भुत परिवर्तन महसूस किया, उन्हे ऐसा लगा मानो सचमुच महारानी की शीतलता उनके शरीर मे प्रवेश कर रही है। महारानी के हाथ से सारी पीड़ा दूर होती जा रही थी। सहसा महाराजा दृढरथ बोल पडे—'प्रिये, मुझे तुम्हारी शीतलता लग गयी। मैं पूर्ण स्वस्थ हू तुम्हारा बालक ससार को शीतलता प्रदान करे।'

गर्भकाल समाप्त होने पर नन्दा ने माघ वदी १२ को श्रीवत्स चिन्ह तथा लक्षण वाले स्वर्णवर्णी पुत्र को जन्म दिया। अपूर्व उत्साह के साथ उनका जन्मोत्सव मनाया गया। गर्भकाल की घटना घटित होने के कारण उनका नाम शीतल रखा गया। कुमार शीतल पुर-परिजनो को शीतलता प्रदान करते हुये बढने

लगे। युवा कुमार शीतल का सानिध्य, उनका स्पर्श व उनका दर्शन — सब कुछ शीतलता प्रदान करने वाला था।

युवा होने पर अत्यन्त उत्साह के साथ शीतल का विवाह संसकार किया गया। पिता के आग्रह पर उन्होंने राज्य का सचालन कार्य भी स्वीकार कर लिया। अनेक वर्षों तक वे राज्य कार्य करते रहे।

वैराग्य — एक दिन महाराजा शीतल ने ससार-व्यवहार त्यागने का निश्चय किया उसी समय लोकान्तिक देवो ने आकर उनके निश्चय को दृढ किया। पुरजनो तथा परिजनो ने बहुत चाहा कि वे राज्य कार्य सम्भाले रहे परन्तु वे अपने निश्चय पर अडिग रहे। भगवान शीतलनाथ चन्द्रप्रभा नामक पालकी में सवार हो उद्यान मे पधारे और एक हजार राजाओ के साथ सयम स्वीकार कर लिया और तपस्या करने लगे। सयम स्वीकार करते ही भगवान को मनःपर्यय ज्ञान हुआ। दूसरे दिन रिष्ट-नगर मे पुनर्वसु राजा के यहा भगवान शीतलनाथ का पारणा हुआ। देवो ने पचाश्चर्य प्रकट करके दान की महिमा की। पूर्वजन्मो की प्रशस्त साधना तथा आसक्ति,रहित निर्विकार जीवन के कारस मुनिराज शीतलनाथ को अधिक समय तक तपस्या नही करनी पडी। अनेक जन्मो की सचित साधना ने उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया।

तीन माह तक विविध अभिग्रह धारण करते हुये और शरीर से निस्पृह रहते हुए, घमस्थ अवस्था मे विचरे। एक दिन वे उद्यान मे पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान लगाये हुये थे। ध्यान की विभिन्न श्रेणिया पार करते हुये वे शुक्लध्यान मे पहुँच गये और घाति-कर्मो के बन्धन से छुटकारा पा लिया। घातियाकर्म नष्ट होते ही भगवान को केवलज्ञान हुआ। तत्काल इन्द्रादि

देवो ने, केवलज्ञान महोत्सव किया। समवशरण की रचना हुई, जिसमे प्राणिमात्र के लिये कल्याणकारी उपदेश देने लगे। वे आकुलता की धु धलिका को हटाकर निराकुल प्रकाश के पुन्ज थे। भगवान की वाणी सुनकर अनेक जीवो ने बोध पाया।

भगवान शीतलनाथ के आनन्दि इक्यासी गणधर थे। एक लाख साधु थे। एक लाख दो सौ साध्विया थी। दो लाख नवासी हजार श्रावक थे। चार लाख अट्ठावन हजार श्राविकायें थी।

इस प्रकार अनेक वर्षो तक तीर्थ कर शीतलनाथ प्राणिमात्र के वजनकल्याण के लिये उपदेश देते रहे। अपना निर्वाणकाल समीप जानकर एक सहस्त्र मुनियो सहित भगवान शीतलनाथ सम्मेद शिखर पर पधारे। वहा उन्होने अनशन किया अन्त मे तपस्या कर वैसाख वदी २ शेष कर्म क्षय कर डाले और निर्वाण पद प्राप्त किया।

ग्यारवें तीर्थंकर

भगवान श्रेयांस नाथ

श्रेयास नाथ ग्यारहवें तीर्थंकर थे। नलिन गुल्म के जन्म मे उन्होने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय.—पुष्करद्वीप के अधिपति नलिनगुल्म थे। वह जैसा गुणवान था, वैसा ही पराक्रमी एव प्रतापी था। राज्य-कार्य करता हुआ भी राजा नलिनगुल्म धनसम्पित तो क्या, शरीर तक मे भी आसक्ति नही रखता था। एक बार वे ऋषि वज्रदन्त के दर्शनार्थ गये। उनका उपदेश हो रहा था—'भोग और रोग मे अन्तर नही है। भोगो के भोगने से अनेक शारीरिक रोग तो उपजते ही हैं एक ऐसा रोग होता है जो महाभयकर है। वह है भवरोग। भोग भोगे और संसार बढा। जब तक भोगो का भोगना नही छूटता तब तक ससार बढ़ता ही जायेगा। सच्चा वैद्य वही है जो व्याधि के मूल कारण की तलाश करके उसे ही मिटाने का प्रयत्न करता है। भवरोग को मिटाने के इच्छुक भोग को छोड योग धारण करते है।'

आचार्य का उपदेश सुनकर नलिनगुल्म ससार, शरीर और भोगो से विरक्त हो गये। उन्होने आचार्य वज्रदन्त से मुनि दीक्षा ले ली और तपस्या मे लीन हो गये। विविध प्रकार की साधना करके उन्होने तीर्थंकरत्व नाम कर्म का उपार्जन किया। यही नलिनगुल्म जन्मातर मे तीर्थंकर श्रेयासनाथ हुये।

वर्तमान परिचयः—भरत क्षेत्र मे सिंहपुर नाम का नगर

था। वहां विष्णुसेन राजा राज्य करता था। विष्णुसेन की पट्टरानी का नाम विष्णुदेवी था। जो सौंदर्योचित एवं स्त्रियोचित गुणों से युक्त थी।

जन्म—अच्युतय देवलोक का आयुष्य पूर्ण करके नलिनगुल्म का जीव फागुन वदी १२ को महारानी विष्णुदेवी की कुक्षि मे आया तब तीर्थंकर सूचक चौदह महास्वप्न उनकी स्वप्निल पलको पर उतर आये।

पति से स्वप्नो का फल जानकर वे हर्षित हो उठी और यत्नपूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी।

गर्भकाल समाप्त होने पर

नो मास सात रातें समाप्त होने पर महारानी विष्णुदेवी ने गेंडा के लक्षण वाले स्वर्णवर्णी पुत्र को जन्म दिया। भगवान का जन्म कल्याण मनाने के लिये इन्द्र एवं देव उपस्थित हुये और जन्म कल्याण मनाकर अपने-अपने स्थान को गये।

महाराजा विष्णुसेन ने पुत्रजन्मोत्सव मनाया तथापि सबकी सहमति से उसका नाम श्रेयासकुमार रखा। शनै: शनै. शैशवावस्था समाप्त करके श्रेयासकुमार युवावस्था को प्राप्त हुये। माता-पिता के आग्रह को मान श्रेयासकुमार ने अनेक राज्यकन्याओ का पाणिग्रहण किया और पत्नियो के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे। वे राज्यकार्य सम्भालने लगे। पारिवारिक जीवन के उत्तरार्द्ध मे श्रेयांस ने प्रव्रज्या ले ली।

वैराग्य—:श्रेयांस ने पूर्व जन्मों मे प्रशस्त साधना की थी इसलिये इस जन्म में अधिक समय तक तपस्या नही करनी पड़ी। एक दिन श्रेयास विमलप्रभा नामकी पालकी मे विराजकर जयध्वनि के साथ सहस्राम्र वन में पधारे। वहां एक सहस्त्र

राजाओ के साथ प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । उसी क्षण मुनि श्रेयांस को मन.पर्यय ज्ञान हुआ। भगवान श्रेयांसनाथ सिंहपुर से विहार कर गये । दूसरे दिन सिद्धार्थ नगर मे नन्दराजा के यहा भगवान ने छट्ठ तप का पारणा किया। देवो ने पंचाश्चर्य प्रकट कर दान की महिमा की।

संयम का पालन करते हुये, निर्ममत्व भाव से भगवान दो मास पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था मे विचरे। दो माह की साधना के बाद ही वे जब ध्यान मे लीन थे तभी उनके घातिया-कर्म नष्ट हो गये और उन्हे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

उनकी समवशरण सभाओ का आयोजन होने लगा। विभिन्न नगरो मे उनके धर्मोपदेश होने लगे। एक बार तीर्थंकर श्रेयासनाथ पोदनपुर पहुँचे। वहां त्रिपृष्ट वासुदेव तथा अचल वलदेव भगवान की वन्दना के लिये आये। त्रिपृष्ट प्रथम वासुदेव तथा अचल प्रथम वलदेव थे। ये दोनो भाई थे। अश्वग्रीव प्रथम प्रतिवासुदेव था।

एक बार अश्वग्रीव के राज्य में एक शेर ने बहुत उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया। लोगों मे भय घर कर गया। डर के मारे कृषक अपने खेतो की रखवाली के लिये भी न जा पाते थे। शेर का उत्पात बढने लगा। खेत उजडने लगे। अश्वग्रीव तक बात पहुंची। अश्वग्रीव ने शेर को मारने की आज्ञा दी। राजपुरुषो ने अनेक प्रयत्न किये पर शेर काबू मे न आया। अश्वग्रीव ने प्रजापति को सन्देश भेजा कि वह शेर का सफाया करे औरजन-धन की हानि को रोके। प्रजापति ने शेर को मारने की तैयारी की। त्रिपृष्ट को ज्ञात हुआ तो उसने कहा—'तात

आप रहने दे, शेर को मैं ही नष्ट कर दूंगा।'

त्रिपृष्ट अचल के साथ शेर की मांद पर पहुंचा और शेर को ललकारा। शेर गुर्राता हुआ माद से निकला और त्रिपृष्ट पर झपटा। त्रिपृष्ट लपककर शेर पर चढ गये। दोनो हाथों से उसके जबडे पकडे और चीर डाले। कुछ ही क्षणो मे सिंह की मृत्यु हो गई।

यह सुनकर लोग त्रिपृष्ट के प्रति कृतज्ञता से भर उठे। अश्वग्रीव तक यह बात पहुंची। वह प्रसन्न भी हुआ और चिन्तित भी। उसे यह आशंका हो गई कि यही त्रिपृष्ट उसकी मृत्यु का कारण बनेगा। ज्योतिपियो द्वारा कही गई बात का उसे ध्यान आया। वह त्रिपृष्ट को मारने का उपाय सोचने लगा। अश्वग्रीव ने प्रजापति को सन्देश भेजा—'मैं आपके पुत्रो को उनके साहस और वीरता के लिये पुरस्कृत करना चाहता हू, उन्हे हमारे यहा भेज दें।'

त्रिपृष्ट ने अश्वग्रीव का आमंत्रण अस्वीकार कर दिया। उसके सन्देश के उत्तर मे कहलाया—'जो एक शेर को नहीं मार सकता, उससे हमे पुरस्कार लेना स्वीकार नहीं।' अश्वग्रीव इस उत्तर से तिलमिला उठा। उसने त्रिपृष्ट पर आक्रमण कर दिया। फलत. दोनो मे युद्ध हुआ। अश्वग्रीव मारा गया।

त्रिपृष्ट वासुदेव का सदर्भ तीर्थ कर श्रयास नाथ के साथ विशेष महत्व रखता है। जैन परम्परा ने तिरेसठ शलाकापुरुष माने गये है। उनमें चौबिस तीर्थ कर, बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव तथा नव प्रतिवासुदेव की गणणा की जाती है।

ऋषभदेव प्रथम तीर्थ कर थे, भरत प्रथम चक्रवर्ती और

त्रिपृष्ट प्रथम वासुदेव। अचल प्रथम बलदेव तथा अश्वग्रीव प्रथम प्रतिवासुदेव थे।

भगवान श्रेयांसनाथ के गोस्थूभादि छहत्तर गणधर थे। चोरासी हजार साधु थे। एक लाख तीस हजार साध्वियां थी। दो लाख उन्तीस हजार श्रावक व चार लाख अड़तालिस हजार श्राविकायें थी।

अपना निर्वाण काल समीप जानकर भगवान एक हजार मुनियो सहित सम्मेद शिखर पर पधार गये वहा अनशन करके भगवान ने चार अघातिया कर्मो का क्षय कर लिया और आषाढ सुदी १४ को मोक्ष प्राप्त किया।

बारहवें तीर्थंकर

भगवान श्री वासुपूज्य

वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर थे। पद्मोत्तर के जन्म में उन्होंने तीर्थंकरत्व की भावना की थी।

पूर्वभव परिचय — पद्मोत्तर-मंगलावती विजय के राजा थे। पद्मोत्तर जिन भक्त था, उनका हृदय संसार से विरक्ति की ओर अधिक रहता था। एक बार वे आचार्य वज्रनाभ के दर्शन करने गये आचार्य का उपदेश चल रहा था—'लक्ष्मी चपला की तरह चंचल है, जैसे बिजली अपनी चमक दिखाकर नष्ट हो जाती है। इसी तरह लक्ष्मी भी थोड़े समय तक अपना प्रभाव दिखाकर नष्ट हो जाती है। पुण्यफल भी अंजली में भरे जल की तरह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, इसलिये ज्ञानी-जन इस नश्वर शरीर से अविनश्वर मोक्ष-सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

पद्मोत्तर उपदेश सुनकर विरक्त हो गये और मुनि दीक्षा ले ली। उन्होंने निर्मल सम्यकदर्शन प्राप्त किया। संयम का पालन करते हुये पद्मोत्तर ने तीर्थंकर-नाम-कर्म का उपार्जन किया। यही पद्मोत्तर जन्मान्तर में तीर्थंकर वासुपूज्य हुये।

वर्तमान परिचय— भरत क्षेत्र के अन्तर्गत चम्पा नाम की एक सुहावनी एवं सुन्दर नगरी थी। वहाँ वासुपूज्य नाम का राजा राज्य करता था। वासुपूज्य की पटरानी का नाम जयादेवी था जो समस्त स्त्रियोचित गुणों से युक्त थी।

जन्मः— पद्मोत्तर राजा का जीव प्राणत देवलोक का आयुष्य पूर्ण करके जयादेवी के उदारागार मे आया। सुखनिद्रा मे लीन महारानी ने तीर्थंकर गर्भसूचक चौदह महा-स्वप्न देखे। पति को स्वप्न सुनाने पर पति ने स्वप्न का जो फल बताया वह सुनकर जयादेवी बहुत हर्षित हुई। वे यत्न-पूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी।

गर्भकाल समाप्त होने पर फागुन वदी १४ को महारानी जया ने महिष के चिन्ह वाले लाल वर्णीय पुत्र को जन्म दिया। आसनकम्पादि से इन्द्रादि देवो ने तीर्थंकर का जन्म हुआ जान-कर भगवान का सुमेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया। महाराज वासुपूज्य ने पुन जन्मोत्सव मनाया तथापि उसका नाम वासुपूज्य रखा गया। शनै शनै वासुपूज्य युवा होने लगे। भगवान वासुपूज्य का रूप सौन्दर्य देखकर अनेक राजा लोग अपनी अपनी कन्याओ का विवाह उनके संग करना चाहते थे, लेकिन वासुपूज्य के माता-पिता जब भी इस बात की चर्चा अपने पुत्र से करते वो टाल जाते।

वैराग्य :—एक दिन भगवान वासुपूज्य के माता पिता उनसे आग्रह करने लगे—'हे वत्स! वैसे तो आप जब से गर्भ मे पधारे तभी से हमारे यहां आनन्दोत्सव होते रहे हैं लेकिन हमारे हृदय मे आपका विवाहोत्सव देखने की उत्कृष्ट इच्छा है अतः आप हमें विवाहोत्सव देखने का भी सुअवसर प्रदान करें, जिससे हम, आपके साथ अपनी कन्याओ का विवाह करने वाले राजाओ की प्रार्थना स्वीकार कर सकें। यही हमारी कुल परम्परा भी रही है।'

माता-पिता की बात सुनकर निर्विकार प्रभु मुस्करा कर कहने लगे—'हे तात! आपके वचन पुत्र-प्रेम के अनुकूल ही है लेकिन मैं इस संसार रूपी जाल मे जन्म मरण करते-करते

थक गया हूं । ऐसी कोई जगह या स्थान नहीं है जहां मैंने जन्म मरण न किया हो । अब मै इस जन्म-मरण के कारण रूप काम-भोग को काट डालना चाहता हू, इसलिये विवाह बन्धन मे पडने और राज-भार स्वीकार करने की मेरी इच्छा नही है । अगर आपको केवल मेरा महोत्सव ही देखना है तो आप अपनी यह अभिलाषा, मेरा दीक्षा महोत्सव केवलज्ञान महोत्सव और निर्वाण महोत्सव देखकर पूरी कर सकते हैं । वासुपूज्य कुमार के विचार सुनकर माता-पिता के आंखो में अश्रु भर आये । वे नेत्रों मे जलभरके कहने लगे—'हे पुत्र ! आप गर्भ मे आये, उस समय आपके जन्म सूचक जो महास्वप्न देखने को मिले, उसी से हमने समझ लिया था कि आप जन्म-मरण के बन्धनो को अन्त करने के लिये ही जन्म ले रहे हैं । लेकिन आप जन्म-मरण का अन्त तो तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करने के साथ ही कर चुके हैं । आपका दीक्षा और केवलज्ञान महोत्सव तो होगा ही लेकिन इन महोत्सवो के पहले आप हमे विवाहोत्सव करने की स्वीकृति दें । जिससे हम यह उत्सव भी देख सकें । यह बात आप तीर्थंकरों के लिये नई नहीं होगी । आदिनाथ भगवान से लेकर श्रेयांसनाथ तक के तीर्थंकरो ने भी ऐसा ही किया था । इसलिये आप भी उन्ही की तरह पहले विवाह करिये राज्य करिये फिर दीक्षा लेकर मोक्ष पधारिये । प्रत्युत्तर मे भगवान नम्रता भरे शब्दो मे कहने लगे—

'हे पिता ! इन पूर्वमहानुभावो के चरित्र से मैं परिचित हू, लेकिन उन्होने विवाह और राज्य भोग फल देने वाले, पूर्व संचित पुण्य कर्म खपाने के लिये किया था । तीर्थंकर के लिए, विवाह एव राज्य करना आवश्यक नहीं है । जिनके संचित पुण्य कर्म अधिक होते हैं उन्हे उन पुण्य कर्मो को भोगने के

लिये विवाह तथा राज्य करना पडता है। क्योंकि जब तक शुभ एव अशुभ कर्मो को भोग न लिया जाये मुक्ति नही हो सकती। मेरे, भोग फल देने वाले कर्म शेष नहीं है इसलिये मुझे आप विवाह या राज्य करने का अनुरोध न करिये, वरन् मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान करिये। कर्मों की भिन्नता के कारण सब तीर्थंकरो का एक ही मार्ग नही हो सकता। इसलिये आप चिन्तारहित होकर मुझे दीक्षा लेने की अनुमति दे।' पिता वसुपूज्य ने बीच में ही टोककर कहा—'कुमार! बस करो, तुमने तो मेरी भी आखे खोल दी। अब मैं न तुमसे विवाह का आग्रह करूंगा, न राज्य सभालने का।'

कुमार वासुपूज्य माता-पिता और पुर-परिजनो से विदा लेकर सन्यस्त को हुये उसी समय लोकान्तिक देवो ने आकर धर्म और तीर्थ प्रवर्ताने की भगवान से प्रार्थना की। वे पृथ्वी नामकी पालकी मे आरूढ हो चम्पानगरी के विहारगृह बाग मे पधारे। वहा छह सौ राजाओ के साथ दीक्षा धारण कर तपस्या मे लीन हो गये। तुरन्त ही भगवान को मनपर्यय ज्ञान हुआ।

दीक्षा लेकर मुनि वासुपूज्य चम्पानगरी से विहार कर गये। दूसरे दिन महापुर मे सुनन्द राजा के यहाँ भगवान का पारणा हुआ। देवो ने दान की महिमा की। भगवान वासुपूज्य ने अप्रतिबन्धित विहार करते हुये पाटलवृक्ष के नीचे न्यायोत्सर्ग किया। घातिया कर्म क्षय होने से भगवान को केवलज्ञान हुआ। इन्द्रादि देवो ने आकर केवलज्ञान की महिमा की। समवशरण की रचना हुई। द्वादश प्रकार की परीषद ने भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुना। अनेक भव्य प्राणियो ने उनका उपदेश सुनकर सयम धारण कर लिया।

विहार करते हुये तीर्थंकर वासुपूज्य द्वारका पहुँचे । वहाँ द्विपृष्ठ वासुदेव को जब यह समाचार मिला तो वे बहुत प्रसन्न हुये । बड़े भाई विजय बलदेव के साथ वे वासुपूज्य के दर्शन करने गये ।

विजय द्वितीय बलदेव तथा द्विपृष्ट द्वितीय वासुदेव थे । तीर्थंकर के उपदेश सुनकर वे बहुत प्रभावित हुये और सत्श्रद्धा प्राप्त की ।

उन्होंने भक्ति पूर्वक भगवान को वन्दन करके, भगवान की अमोघवाणी सुनी । अपना निर्वाणकाल समीप जानकर भगवान छः सौ साधुओं सहित पुनः चम्पानगरी मे भगवान वासुपूज्य ने अनशन करके सब कर्मो को क्षय कर डाला और आषाढ़ सुदी १४ को मोक्ष प्राप्त किया ।

तेरहवें तीर्थंकर

भगवान विमल नाथ

विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर थे। पद्मसेन के जन्म मे इन्होने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय :—पद्मसेन पश्चिम धात की खण्ड के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक देश के राजा थे। एक दिन राजा पद्मसेन मुनि सर्वगुप्त के दर्शन करने गये उनसे धर्म का स्वरूप जानकर पद्मसेन राजा को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे मुनि बन गये। विविध प्रकार की साधना करके उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। यही पद्मसेन जन्मान्तर मे तीर्थंकर विमल नाथ हुए।

वर्तमान परिचय :—भरत क्षेत्र के अयोध्या नगरी मे कृतवर्मा राज्य करते थे वे अत्यन्त धर्मप्रिय एव सर्वप्रिय थे। उनकी पटरानी का नाम श्यामा था, जो समस्त स्त्रियोचित्त गुणों से पूर्ण थी।

जन्म :—एक दिन महारानी श्यामा स्वप्निल मुद्रा मे लीन थी कि चौदह महास्वप्न उनकी पलको पर उतर आये जो तीर्थंकर के जन्म होने के सूचक थे। महारानी द्वारा राजा कृतवर्मा से स्वप्नफल पूछने पर उन्होंने तीर्थंकर पुत्र प्राप्ति की सूचना बताया। स्वप्नफल जानकर महारानी श्यामा हर्षित हो उठीं। वे यत्नपूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी। गर्भ का समय पूर्ण होने

पर श्यामा महारानी ने माघ सुदी ३ को शूकर के चिन्ह वाले श्वेतवर्णी पुत्र को जन्म दिया। नामकरण तथा जन्मोत्सव मनाये जाने लगे। आसन कम्पादि से जानकर इन्द्रादि देवो ने तीर्थंकर का जन्म हुआ जानकर उनको सुमेरू पर्वत पर ले जाकर उनका जन्मोत्सव मनाया। राजा कृतवर्मा ने नामकरण विमल रखा।

शनैः शनैः विमलनाथ युवावस्था को प्राप्त होने लगे तथापि उनका कई राज्य-कन्याओं से विवाह हो गया, राजा कृतवर्मा ने राज-पाट उन्हे सौंप दिया। बहुत समय तक उन्होंने गृहस्थ जीवन व्यतीत किया।

एक दिन विमल ने अपने पूर्व—जीवन का पर्यालोचन किया। उन्हे लगा—राज्य और गृहस्थ जीवन के भोग ही जीवन की चरम उपलब्धि नहीं है। पूर्वजन्मो में आत्मविकास की जो साधना की है, उसे आगे बढाना चाहिये।' वे सोचने लगे — कि इन तीन समग्ज्ञानो से क्या होने वाला है क्योंकि इन सभी की सीमा है, इन सभी का विषय क्षेत्र परिमित है। चूं कि अप्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय है अत. मेरे चारित्र का लेश भी नही है और बहुत प्रकार का मोह तथा परिग्रह विद्यमान है अत.-उन्होंने सयम धारण करने का विचार प्रकट किये। तदन्तर भगवान विमल नाथ देवदत्त नामक पालकी पर सवार होकर अयोध्या के निकट उद्यान मे पधारे। वहां उन्होने दीक्षा ले ली और तपस्या मे लीन हो गये। दूसरे दिन उन्होंने भोजन के लिए नन्दनपुर नगर मे प्रवेश किया। वहा के राजा कनकप्रभ ने उन्हे आहार देकर देवो द्वारा पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इस प्रकार सामयिक चारित्र धारण करके भगवान विमलनाथ शुद्ध हृदय से तपस्या करने लगे।

महामुनि विमलनाथ दो वर्षों तक कठोर तपस्या करते रहे। एक दिन वे ध्यान मग्न थे। उनके कर्मों का झीना आवरण

भी नष्ट हो गया भगवान विमलनाथ ने घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आकर उनका केवल ज्ञान-कल्याण मनाया। उन्हें आत्मदर्शन हो गया। उनकी समवशरण सभाओं का आयोजन होने लगा, वे प्राणिमात्र के कल्याण के लिये धर्मोपदेश देने लगे। भगवान विमलनाथ की धर्मोपदवाणी सुनकर बारह प्रकार की परिषद मे से अनेक भव्य जीवों ने सयम तथा बहुतो ने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया।

तीर्थंकर विमलनाथ के समय मे ही तीसरे वासुदेव स्वयंभू हुए। उनके बडे भाई भद्र थे, वे तीसरे बलभद्र थे। मेरक तीसरा प्रतिवासुदेव था।

विमलनाथ के धर्मोपदेश की चर्चा वासुदेव बलभद्र तक पहुंची। वे उनके दर्शनार्थ आये। भगवान की दिव्य वाणी सुन करके वासुदेव स्वयभू अत्यन्त हर्षित हुए तथा उनसे सम्यक्त्व धारण कर लिया।

विमलनाथ बहुत वर्षों तक कल्याणकारी उपदेश देते रहे। आयु के अन्त मे अपना निर्वाण काल समीप जानकर के सम्मेद शिखर पर पहुंचे तथा आषाढ़बदी ७ को मोक्ष प्राप्त किया।

———

चौदहवें तीर्थंकर

भगवान अनन्तनाथ

अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर थे । पद्मरथ के भव मे उन्होने तीर्थंकरत्व की साधना की थी ।

पूर्वभव परिचय —भरत क्षेत्र के धात की खण्ड द्वीप की अरिष्ठा नगरी के शासक पद्मरथ थे । वे बहुत समय तक अनासक्त भाव से राज्य करते रहे । एक दिन चित्तरक्ष मुनि से धर्मोपदेश सुनकर वे सोचने लगे—जीवो का शरीर के साथ और इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ जो सजोग होता है, वह अनित्य है क्योंकि इस ससार मे सभी जीवो के आत्मा और शरीर तथा इन्द्रियों और उनके विषय इनमे से एक का अभाव होता ही रहता है अत· मुझे सयस्त हो जाना चाहिये । तपश्चात कठोर तपस्या करके तीर्थंकरत्व की सिद्धि प्राप्त की । यही पद्मरथ जन्मान्तर में तीर्थंकर अनन्तनाथ हुए ।

वर्तमान परिचय —भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी मे महाराजा सिंहसेन राज्य करते थे । वे प्रजापालक तथा धर्म निष्ठता मे प्रथम थे । उनकी पटरानी का नाम सुयशा था । वे समस्त स्त्रियोचित गुणो से परिपूर्ण थी ।

जन्म —एक बार महारानी सुयशा देवी निद्रा में लीन थी तभी चौदह महास्वप्न उनकी स्वप्निल पलकों पर उतर आये ।

स्वप्नफल महाराजा सिंहसेन से पूछने पर उन्होने बताया कि एक तीर्थंकर पुत्र की प्राप्ति होगी। गर्भकाल समाप्त होने पर वैसाख बदी १३ को एक बाज पक्षी चिन्हित गौरवर्णीय पुत्र को जन्म दिया। आसन कांपने से इन्द्रादि देवो को तीर्थंकर के जन्म की सूचना मिलने पर उन्होन अयोध्या आकर बालजिन का जन्मोत्सव मनाने के लिये उसे सुमेरू पर्वत पर ले गये और जन्माभिषेक किया।

महाराजा सिंहसेन ने पुत्रोत्सव मनाकर उसका नाम अनन्त रखा।

वैराग्य :—अनेक दास-दासियो से सेवित अनन्त कुमार युवावस्था को प्राप्त हुए। वे सौंदर्य की मूर्ति थे। राजा सिंहसेन ने अनन्त कुमार का परिग्रहण किया। माता पिता के आग्रह पर उन्होने राज्य-कार्य सम्भाला। परन्तु अनन्तनाथ को ऐश्वर्य बाध न सके वे उस तरफ उदासीन रहते थे। उन्होने सन्यस्त होने का विचार किया उसी समय लोकान्तिक देवो ने आकर उनसे प्रार्थना की—'प्रभो! आप धर्म और तीर्थ को प्रवृताइये। उसी समय अनन्तनाथ सागरदत्त नामक पालकी पर सवार होकर उद्यान मे पधारे, वहा बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओ के साथ दीक्षित हो गये। उसी क्षण उन्हे मन. पर्यय ज्ञान हुआ। दूसरे दिन अनन्तनाथ महामुनि चर्चा के लिये साकेतपुर पधारे, वहा के विशाखा नामक राजा ने उन्हे आहार देकर देवो द्वारा प्रदत्त पचाश्चर्य प्राप्त किये।

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष व्यतीत हो गये तब वे एक दिन अश्वत्थ वृक्ष के नीचे ध्यान मे लीन थे, तभी उन्हे केवलज्ञान हो गया। उसी समय

देवों ने उपस्थित होकर केवलज्ञान महोत्सव किया।

जय आदि पचास गणधरों के द्वारा उनकी दिव्य ध्वनि का विस्तार होता था। वे एक हजार पूर्व धारियों के द्वारा वन्दनीय थे। तीन हजार दो सौ वाद करने वाले मुनियो के स्वामी थे, उन्तालीस हजार पाच सौ शिक्षक उनके साथ रहते थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे। वे पांच हजार केवल ज्ञानियो सहित थे। पाच हजार मन: पर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे।

उनकी समवशरण सभाओ का आयोजन होने लगा था, वे अनन्त से अनन्तनाथ हो गये थे। सर्वदर्शी, सर्वज्ञ। उनके धर्मोपदेश सरल भाषा मे जनहित के लिये होते थे।

अनन्तनाथ के समय मे ही द्वारका में चौथे वासुदेव पुरुषोत्तम हुए, उनके बड़े भाई सुप्रभ चौथे बलभद्र थे। वे दोनो भाई तीर्थंकर अनन्तनाथ के दर्शन हेतु आये, उनका धर्मोपदेश सुनकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए और आत्मकल्याण हेतु अन्य-अनेक व्रत धारण किये।

तदनन्तर—वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा था। वह सूर्य के समान तेजस्वी तथा अत्यन्त पराक्रमी था। नारद से उस असहिष्णु ने उन बलभद्र और नारायण का वैभव सुनकर उनके पास खबर भेजी कि तुम मेरे लिए हाथी तथा रत्न आदि कर स्वरूप भेजो। उसकी खबर सुनकर पुरुषोत्तम का मन रूपी समुद्र ऐसा क्षुभित हो गया मानो प्रलय काल की वायु से ही क्षुभित हो उठा हो। बलभद्र सुप्रभ भी क्रोधित होने लगा। यह समाचार सुनकर मधुसूदन बहुत कुपित हुआ और उन दोनो भाइयो को मारने के लिये चला तथा वे

दोनो भाई भी क्रोध से उसे मारने के लिये चले। दोना के बीच सग्राम हुआ। अन्त मे पुरुषोत्तम ने चक्रद्वारा मधुसूदन का अन्त किया। दोनो भाई चौथे बलभद्र तथा नारायण हुए।

अनन्तनाथ अनेक जगहो पर तथा लम्बे समय तक धर्मदेशना देते रहे जिससे प्रभावित हो अनेक भव्य प्राणियो ने सयम स्वीकार कर लिया।

अन्त में अपना निर्वाणकाल समीप जानकर वे सम्मेद शिखर पर पधारे तथा अतिम तपस्या पूर्ण की और चैत्र सुदी ५ को मोक्ष प्राप्त किया।

———

पन्द्रवें तीर्थंकर

भगवान धर्म नाथ

धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थकर थे। सिंहरथ के जन्म मेइन्होने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय — भरत क्षेत्र के भद्दिलपुर नगरी मे महाराजा दृढ़रथ राज्य करते थे। विमलवाहन मुनि का उपदेश सुनकर उन्हे ससार से विरक्ति हो गयी और वो आत्मसाधना मे प्रवृत हुये और सोलहकारण भावनाओ की आराधना करके तीर्थंकर प्रकृति का उपार्जन किया। यही सिंहरथ जन्मान्तर मे तीर्थकर धर्मनाथ हुये।

वर्तमान परिचय —भरत क्षेत्र मे रत्नपुरी नामक नगर था। वहा के शासक भानुराजा थे। भानुराजा महातेजस्वी और महालक्ष्मी सम्पन धर्मप्रिय राजा थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। जो समस्त स्त्रियोचित गुणो से पूर्ण थी।

जन्म —जब सिंहरथ का जीव आयुष्य पूर्णकर जन्म लेने को हुआ तो महारानी सुप्रभा ने एक दिन स्वप्निल अवस्था मे चौदह महास्वप्न देखे जो तीर्थंकर के जन्म के प्रतीक थे उसी समय सिंह रथ का जीव चयकर उनके गर्भ मे प्रवेश कर गया। महारानी द्वारा स्वप्नफल पूछे जाने पर महाराजा भानु ने 'एक तीर्थकर पुत्र की प्राप्ति का समाचार दिया, जिसे सुनकर महारानी सुव्रता हर्ष विभोर हो उठी। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ सुदी ३ को सर्वगुण सम्पन्न, अवधिज्ञान रूपी नेत्रों के धारक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय इन्द्रो ने सुमेरू पर्वत पर ले जाकर सुवर्णकलशो मे भरे हुये क्षीर सागर के जल से उनका

अभिषेक किया। महाराजा भानु ने पुत्रोत्सव किया तथापि उनका नाम धर्मनाथ रखा।

शनै-शनै वो युवावस्था को प्राप्त होने लगे और माता-पिता के आग्रह करने पर उन्होंने पाणिग्रहण करना स्वीकार लिया। माता-पिता ने उनका अनेक राज्यकन्याओ के साथ विवाह करा दिया तथा राज्य कार्य का भार भी धर्मनाथ सम्भालने लगे। काफी समय तक वे अपनी पत्नियो के साथ जीवन व्यतीत करते रहे।

वैराग्य :— एक दिन उन्होंने संसार त्यागने का विचार किया—'मेरा यह शरीर कैसे, कहाँ और किससे उत्पन्न हुआ है ?' क्रियात्मक है ? किसका पात्र है और आगे चलकर क्या होगा, ऐसा विचार न कर मुझ मूर्ख ने इसके साथ चिरकाल तक संगति की। पाप संचय कर उसके उदय से मैं आज तक दुख भोगता रहा कर्म से प्रेरित हुये मुझ दुर्मति ने दुःख को ही सुख मानकर कभी स्थायी सुख प्राप्त नही किया। ये ज्ञान दर्शन मेरे गुण है यह मेने कल्पना भी नही की। स्नेह और मोह रूपी ग्रहों से ग्रसा हुआ प्राणी बार-बार परिवार के लोगो तथा धन का पोषण करता है। और पाप के संचय से अनेक दुर्गतियो मे भटकता है।' इस प्रकार भगवान को विचार हुआ जानकर लोकान्तिक देव उपस्थित हुये और धर्म-नाथ स्वामी की इच्छाओ को निश्चयात्मक रूप देने की प्रार्थना की।

इस प्रकार धर्मनाथ स्वामी नागदत्ता नामक पालकी में सवार होकर उद्यान मे पधारे। वहा उन्होंने वेला उपवास का नियम लिया तथा एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हे मन पर्यय ज्ञान हुआ। दूसरे दिन आहार हेतु पाटलीपुत्र पहुंचे वहा के धन्यषेण राजा ने आहार दान देकर देवो द्वारा पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था तक वे कठोर तपस्या करते रहे। एक दिन वे दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यान लगाये हुये थे, तभी उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे धर्म मुनि से तीर्थंकर धर्मनाथ हो गये। उनकी समवशरण सभाओ का आयोजन होने लगा। अपार जनसमूह उनके कल्याणकारी उपदेशो को सुनने के लिये उमड पडता, उनके धर्मोपदेश सुनकर कई अन्य भव्य प्राणियो ने संयम स्वीकार कर लिया। वे अरिष्टसेन को आदि लेकर तैंतालिस गणधरो के स्वामी थे, नौ सौ ग्यारह पूर्वधारियो से आवृत थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षको से सहित थे, तीन हजार छह सौ तीन प्रकार के अवधिज्ञानियों से युक्त थे, चार हजार पाच सौ केवलज्ञानी भी उनके साथ थे।

तीर्थंकर धर्मनाथ के समय मे ही पाचवें वासुदेव पुरुषसिंह हुये, उनके बड़े भाई सुदर्शन पांचवें बलभद्र थे। पाचवा प्रति-वासुदेव निशुंभ भी इसी समय हुआ। वासुदेव ने युद्ध में प्रति-वासुदेव का संहार किया।

एक बार तीर्थंकर धर्मनाथ का समवशरण अश्वपुर आया। वासुदेव अपने भाई बलभद्र के साथ उनके मन पर गहरा प्रभाव पडा, उन्होंने आत्मकल्याण के लिये अनेक व्रत-नियम धारण किये।

धर्मनाथ स्वामी के समय में ही तीसरे चक्रवर्ती मघवा और उनके बाद चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार हुये। धर्मनाथ तीर्थंकर के अन्तराल मे कोशल नामक मनोहर देश की अयोध्यापुरी के स्वामी राजा समुद्र विजय की महारानी से मघवन् नाम का पुण्यात्मा पुत्र हुआ। यही आगे चलकर भरतक्षेत्र का स्वामी चक्रवर्ती हुआ। पिता के बाद उन्होने राज्यकार्य को इतना विस्तार दिया कि चक्रवर्ती सम्राट बने। अनासक्त

भाव से राज्य भोगकर अन्त मे उन्होने मुनिव्रत ले लिया और तपस्या करने लगे।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का जन्म हस्तिनापुर मे हुआ था। उनके पिता का नाम अश्वसेन तथा माता का नाम सहदेवी था। सनत्कुमार अतिशय रूपवन थे। उनके रूप की प्रशंसा चारो ओर फैल गया था। उन्हे "कामदेव" कहा जाता। सुवर्ण के समान कांति वाले उस चक्रवर्ती ने समस्त पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया था। इस प्रकार इधर इनका समय सुख से व्यतीत हो रहा था, उधर सौधर्म इन्द्र की सभा मे देवो ने सौधर्मेन्द्र से पूछा कि क्या कोई इस लोक मे सनत्कुमार, इन्द्र के रूप को जीतने वाला है? सौधर्मेन्द्र ने उत्तर दिया कि—'हां! सनत्कुमार चक्रवर्ती सर्वांग सुन्दर है। उसके समान रूप वाला पुरुष कभी ने स्वप्न मे भी नहीं देखा है। सौधर्मेन्द्र के वचन सुनकर देवो को कौतूहल हुआ और वे उसका रूप देखने आये जब सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखा तब सौधर्मेन्द्र का कहना ठीक है, ऐसा कहकर वे बहुत ही हर्षित हुये। उन देवो ने सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने आने का कारण बताकर कहा—'हे चक्रवर्तिन्! यदि इस संसार मे आपके लिये रोग, बुढ़ापा तथा मरण की सम्भावना न हो तो आप अपने सौन्दर्य से तीर्थंकर को भी जीत सकते हैं। ऐसा कहकर देव शीघ्र ही अपने स्थान को चले गये। राजा सनत्कुमार उन देवो के वचनो से ऐसा प्रतिबद्ध हुआ मानो काललब्धि ने ही आकर उसे प्रतिबुद्ध कर दिया हो। वह चिन्तवन करने लगा कि मनुष्य के रूप यौवन, सौंदर्य सम्पति और सुख आदि रूप लता के विस्तार से पहले

ही नष्ट हो जाने वाले हैं। मैं इन नश्वर सम्पत्तियो को छोड़कर पापो को जीतने वाला बनूंगा। और शीघ्र ही इस शरीर को छोड़कर अशरीर अवस्था को प्राप्त होऊंगा। ऐसा विचार कर उसने दीक्षा धारण कर ली। वे अहिंसादि पाच महाव्रतो से पूज्य थे, इर्या आदि पाच समितियो का पालन करते थे, छह आवश्यको से उन्होंने अपने आप को वश कर लिया था। इन्द्रियो को आधीन कर लिया था।

इस तरह धर्मनाथ तीर्थंकर का प्रसार दूर-दूर तक हुआ, उनके उपदेश सर्वप्रिय व सर्वमान्य, हो गये। आयु के अन्त मे अपना निर्वाणकाल समीप जानकर भगवान धर्मनाथ सम्मेद शिखर पर पहुंचे और अन्तिम साधना पूर्ण को तथा ज्येष्ठ सुदी ६ को मोक्ष प्राप्त किया।

———

सोलहवे तीर्थंकर

भगवान शान्तिनाथ

भगवान शान्ति नाथ सोलहवें तीर्थ कर थे। उन्होने क्रमशः श्रीषेण, अभिनन्द्रित-शिखनन्दिता, कपिल-सत्यभामा, अश्विनोघोष अमिततेज, अपराजित, बजायुध, क्षेमकर घनस्थ तथा मेघरथ के जन्म में तीर्थं करत्व की साधना की थी।

अन्तिमभव परिचय- एक बार पुण्डरीकिणी नगरी मे मेघरथ के रूप मे जन्म लिया। मेघरथ राजा शरणागत की रक्षा के लिये प्रसिद्ध थे। एक बार की बात है—कि एक कबूतर उडता-उडता हुआ आया और सीधा उनकी गोद मे आ गिरा, वह भय से अत्यन्त व्याकुल प्रतीत हो रहा था। राजा मेघरथ ने हाथ फेरकर उसे दुलारा, वह कुछ आश्वस्त हो गया।

इतने मे कबूतर का पीछा करते हुये एक बहेलिया आया। उसने मेघरथ से कहा—'कृपा मेरा शिकार मुझे दे दें।

मेघरथ ने कहा—'खाने पीने की और भी कई चीजे है, उनमे अपनी भूख मिटाओ, मैं अपनी शरण में आये हुये को नहीं दे सकता।'

बहेलिये ने उत्तर दिया—'मैं ताजे मास के बगैर नहीं रह सकता, मुझे मेरा कबूतर वापस सौंप दें।'

मेघरथ ने कहा—कबूतर को तो मैं अभयदान दे चुका हूँ अगर तुम चाहो तो मैं उतना ही मास अपने शरीर का तुम्हे दे सकता हूँ।'

बहेलिया इस पर राजी हो गया। तब एक तराजू मे एक तरफ राजा मेघरथ काट काट कर अपने शरीर का मास रखता

गया और तराजू के दूसरी ओर कबूतर बैठा था जिसका पलड़ा ऊपर हो नहीं हो रहा था, अन्त मे मेघरथ स्वय तराजू पर बैठ गया।

उसी समय कबूतर और बहेलिये ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया वे रूप बदलकर मेघरथ की परीक्षा लेने आये थे उन्होंने मेघरथ से क्षमा याचना की। लोग धन्य-धन्य करने लगे। यही मेघरथ जन्मान्तर मे भगवान शान्तिनाथ हुये।

वर्तमान परिचय—कुरु जागल देश के मध्य मे ऋषियों का महान स्वर्ग सरीखी नगरी है, जिसका नाम है 'हस्तिनापुर' इस हस्तिनापुर' के महान् राजा अजितसेन के पुत्र विश्वसेन राज्य करते हैं। जिनमे सभी प्रकार के राज्यपदीय गुण थे।

उनकी अचिरा नाम की महारानी, पटरानी थी। राजा विश्वसेन तार्किक, सैद्धान्तिक, नैमेत्तिक, न्यायिक व राजनैतिक सभी विद्याओं के मर्मज्ञ थे।

जन्म.—रानी अचिरा निद्रा देवी की की गोद में मग्न हो रही थी कि जैसे कुछ नेत्र की पलकें खुलीं और रानी ने मंगल-दायक स्वप्न देखे। स्वप्नफल पूछने के लिये रानी अचिरा ने महाराज विश्वसेन के पास पहुँची — स्वामिन! आज मैंने रात्रि के अन्तिम पहिर मे बहुत ही अच्छे-अच्छे स्वप्न देख चुकी हू और रानी ने १४ स्वप्न जो उसे दिखाई दिये थे, सभी को राजा से कहा। स्वप्न सुनकर राजा पुलकित हो उठा। अनायास ही उसके मुख से निकल पड़ा— 'धन्य है! धन्य है ?'

'क्या धन्य है स्वामिन्! मेरा समाधान हुआ नहीं।' रानी ने राजा के प्रसन्न मुख को देखते हुये कहा।

राजा विश्वसेन अवधिज्ञानी थे। उन्होंने रानी को तीर्थंकर पुत्र होने की सूचना दी, यह सुनकर रानी का रोम-रोम पुलकित हो उठा।

प्रातःकाल की वेला! जिस प्रकार घने अन्धकार को चीरकर सहस्त्र किरणों को प्रसारित करता हुआ प्राची मे सूर्य उदय होता है, उसी प्रकार महारानी अचिरा के गर्भ से जेष्ठ वदी १२ को अनुपम अतिशय पुत्र ने जन्म लिया। इस महा-पुनीत अवसर का ज्ञान इन्द्र को भी हो गया। ज्यो ही उसका सिंहासन हिला तो इन्द्र ने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि अचिरा रानी की पवित्र कुक्षी से तीर्थंकर शान्ति नाथ ने जन्म लिया है। तथापि इन्द्रादि देवो ने हस्तिनापुर आकर बाल जिन को ले सुमेरु पर्वत पर उसका जन्माभिषेक मनाया। इधर हस्तिनापुर नगर मे राजा विश्वसेन अपनी प्रजा के पुत्रोत्सव मना रहे थे, नामकरण मे उनका नाम शान्ति रखा गया। शांति मृग चिन्हित थे।

बालक शान्ति दूज के चन्द्रमा की तरह बढने लगे। नेत्रो को आनन्दायक, मन को प्रफुल्लित करने वाले शान्ति ने शारी-रिक, मानसिक, बौद्धिक वृद्धि के साथ युवावस्था की ओर कदम बढाया।

युवा होने पर युवराज शांति का पाणिग्रहण-संस्कार किया गया। मन्त्री आदि से परामर्श कर एक दिन विशाल राज सभा के बीच राजकुमार शांति का राज्याभिषेक किया गया। राजा विश्वसेन राज्य सम्पदा की डोर शांति के कुशल हाथो मे देकर निश्चिन्त हुए। शान्ति ने अपने पौरुष और बुद्धि-बल से राज्य का बहुत विस्तार किया। भरत की तरह वे भी चक्रवर्ती सम्राट बने। सभी ने उनके चक्रवर्तित्व को स्वीकार किया। भरत क्षेत्र के छह खण्डो में ही इन्हो की जय-जयकार गूंज रही थी।

वैराग्य :—बहुत वर्षो तक वे चक्रवर्तित्व का उपभोग करते रहे किन्तु उसमे उनको आसक्ति रचमात्र भी नही थी। एक दिन वो किसी उत्सव मे जाने के लिये तैयार हो रहे थे कि एक

सेवक आया और गिड़गिड़ा के कहने लगा—'प्रभो ! क्षमा हो। यह मुद्रिका मुख से आपके पीकदान मे जा गिरी।

'पीकदान मे लेकिन था ही क्या,—शान्तिनाथ ने उत्तर दिया—मेरे मुह का उगाल ही था न। शरीर के अंग से क्या यही गंदगी निकली है, जिसकी तुम लोग प्रशसा करते हो, उसी को सजाना चाहते हो ताकि उत्सव की शोभा रहे। बस, करो। उतारो इन सब अलंकारो को। संसार शरीर और भोग की विनश्वरता का भान मुझे आज हुआ है। यह परिवार, यह वैभव यह साम्राज्य, यह शरीर मात्र एक भूल भूलैया हैं। फसने के लिये एक सुनहरा जाल है।"

शान्तिनाथ के वैराग्य भाव को जानकर लोकान्तिक देव आ पहुँचे। उन्होंने भी शान्तिनाथ के विचारो को सुद्रढ किया। शान्तिनाथ के भावो में वैराग्य का शाति-रस घुलने लगा। और तब स्वार्थसिद्धि नामक पालकी मे विराजित हो शातिनाथ वैराग्य उपवन की ओर चले। वहा शिला पर विराज हो उन्होंने दीक्षा ले ली। सम्राट चक्रवर्ती शातिनाथ, मुनिशांतिनाथ बन गये। एक वर्ष बीत गया। उनकी तपस्या और उत्कृष्ट होती गयी। एक दिन वे ध्यान मे लीन थे तभी घातियाकर्मों को नष्ट कर उन्होंने केवल ज्ञान की प्राप्ति की ' केवल ज्ञान रुपी लक्ष्मी की उपलब्धि होते ही उन्होंने आरिहन्त' पद को प्राप्त किया। जहाँ कोई मलिनता, कोई दोष नहीं होता। इन तीन लोको के अनन्त पर्यायो को, भूत, भविष्य एव वर्तमान काल की सब पर्यायो को एक साथ स्पष्ट एव सत्य जानने का विज्ञान उन्हे उपलब्ध हुआ उनकी धर्म सभाओ का आयोजन होने लगा उन्होंने प्राणिमात्र के लिये धर्मोपदेश दिया—'धर्म, आत्मा का अपना 'स्वभाव' होता है। जो कभी भी विपरीत नही हो सकता। आत्म—स्वभाव के विपरीत कार्य का नाम ही पाप है। सर्व हितकारी भाव सहित कार्य ही पुण्य है। चरित्र ही धर्महैं।'

इस प्रकार बहुत वर्षों तक तीर्थंकर शान्तिनाथ के उपदेश होते रहे अन्त मे वे सम्मेद शिखर पर पधारे और ज्येष्ठ वदी १३ को समस्त योगों का निरोध कर दिया और मोक्ष प्राप्त किया।

——

सत्तरहवे तीर्थंकर

भगवान कुंथुनाथ

कुंथुनाथ सत्तरहवें तीर्थंकर थे । सिंहावह के जन्म मे उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी ।

पूर्वभव परिचय — पूर्व विदेह क्षेत्र मे खड्गि नाम की नगरी थी । सिंहावह वहा के शासक थे । वे सदैव राज्य की ओर से उदासीन रहते थे । विरक्त होने पर उन्होंने आचार्य सवर के निकट दीक्षा ले ली और सोलह कारण भावनाओ की आराधना करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया । यही सिंहावह जन्मान्तर मे तीर्थंकर कुंथुनाथ हुये ।

वर्तमान परिचय — भरतक्षेत्र के कुरुजागल क्षेत्र मे 'हस्तिनापुर' नाम की रमणीय नगरी थी । वहां महाराजा शूरसेन राज्य करते थे । वें अतिबलशाल एव धर्मं प्रिय राजा थे । प्रजा सदैव उनसे प्रसन्न रहती थी । उनकी पटरानी का नाम श्री देवी था । वो समस्त स्त्रियोचित गुणो से परिपूर्ण थी ।

जन्म — एक दिन महारानी श्रीदेवी निद्रा मे लीन थी उसी समय उन्होंने चौदह महास्वप्न देखे, जो तीर्थंकर के जन्म के सूचक है । स्वप्नफल पूछने पर महाराजा शूरसेन ने तीर्थंकर के जन्म होने की बातें कही । महारानी हर्षित हो उठी । गर्भ-काल पूर्ण होने पर महारानी ने बकरे के चिन्ह वाले स्वर्णवर्णाभ पुत्र को वैसाख बदी १४ को जन्म दिया । तीर्थंकर के जन्म की सूचना आसन कांपने से इन्द्रादि देवों को होने पर वे बाल-जिन को सुमेरूपर्वत पर ले गये वहां जाकर उन्होंने उसका

जन्माभिषेक किया तथापि हर्षित हो वापिस गये। महाराजा शूरसेन ने भी पुत्रोत्सव मनाकर उसका नाम कुंथु रखा।

धीरे-धीरे कुंथु बचपन का उल्लंघन कर युवावस्था में प्रवेश करने लगे तब उनके माता पिता ने उनका पाणिग्रहण संस्कार किया कुंथु ने राज्य कार्य भी संभालना शुरू किया। प्रारंभ में वे माण्डलिक राजा के रूप में रहे, बाद में अपने बुद्धि, पौरुष, और प्रतिमा के बल से चक्रवर्ती सम्राट बने। बहुत लम्बे समय तक उन्होंने चक्रवर्तित्व का भोग किया।

वैराग्य.—एक दिन कुंथु महाराजा ने अपने पूर्वभव का स्मरण किया तो उन्हे लगा यह सारा संसार मिथ्या है, झूठ है, यह सब नश्वर है। उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय उन्हें मन पर्यय ज्ञान हुआ। वे कुंथु से कुंथुनाथ हो गये।

सोलह वर्षो तक कुंथु मुनि अवस्था मे तपते रहे, उनकी तपस्या और अधिक उत्कृष्ट होती गयी। एक दिन में सहस्राम्र वन मे ध्यान मे लीन थे तभी उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया, वे सर्वदर्शी हो गये सर्वज्ञ हो गये। उनकी समवशरण सभाओं मे अनेक भव्य प्राणियों ने उपस्थित हो कर उनका धर्मोपदेश सुना उन्होंने अपनी दिव्यध्वनि से मुक्ति मार्ग का प्रसार किया, उनकी वाणी सुनकर अनेक प्राणियों ने संयम और सम्यक्त्व धारण कर लिया। उनके उपदेश प्राणिमात्र के कल्याण के लिये होते थे।

तीर्थंकर कुंथुनाथ के स्वयंभू आदि ३५ गणधर थे, ६० हजार सब तरह के मुनि थे। भाविता आदि ६० हजार ३०० आर्यिकायें थी। गंधर्व यक्ष जयायक्षी थी।

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर वे सम्मेद शिखर पर पहुंचे और शेष साधना पूर्ण की और वैसाख वदी १ को निर्वाण प्राप्त किया।

(अठारहवें तीर्थंकर)

भगवान अरहनाथ

अरहनाथ अठारहवें तीर्थंकर थे। धनपति के जन्म में उन्होंने तीर्थंकरत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय—पूर्व विदेह क्षेत्र में सुसीमा नामक रमणीय नगरी थी, धनपति वहा के राजा थे। एक दिन आचार्य सवर से धर्मोपदेश सुनकर उनमे ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने मुनि दीक्षा लेकर तीर्थंकरत्व की सोलह-कारण भावनाओं की आराधना की। यही धनपति जन्मान्तर मे तीर्थंकर अरहनाथ हुये।

वर्तमान परिचय—कुरजागल प्रदेश की रमणीय नगरी थी 'हस्तिनापुर'। सुदर्शन राजा वहा के शासक थे वे अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा प्रजापालक थे। उनके राज्य मे प्रजा सदैव सुखी रहती थी। उसकी पटरानी का नाम देवी था। वे अत्यन्त रूपवती, गुणवती एव स्त्रियोचित गुणो से परि- पूर्ण थी।

जन्म—एक समय जब महारानी देवी निन्द्रालीन थी तभी चौदह महास्वप्न उनकी सुहानी स्वप्निल पलको पर उतर आए। स्वप्नफल जानकर वे अत्यन्त हर्षित हो उठी और यत्नपूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी देवी ने मगसर सुदी १० को नद्मावर्त चिन्ह वाले एक अतिशय अनुपम पुत्र को जन्म दिया। आसन कापने से तीर्थंकर का जन्म हुआ जानकर इन्द्रादि

देवो ने आकर बाल जिन का सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया। महाराजा सुदर्शन ने भी पुत्रोत्सव मनाया और माता ने गर्भकाल मे रत्न से बने चक्र के आरे देखे थे इसलिये उनका नामकरण अर या अरह रखा गया। अरह शनै.-शनै युवावस्था को प्राप्त होने लगे और तब महाराजा सुदर्शन ने उनका विवाह अनेक राजकन्याओ से कर दिया। अपने कर्म शेष जानकर वे अपनी पत्नियो के साथ सुखी जीवन बिताने लगे। उन्होने राज्य-शासन भी सम्भालना शुरू कर दिया। कुछ वर्षो तक मण्डलाधिपति के रूप मे राज्य करते रहे बाद मे ६ खण्डो पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती बने। बहुत वर्षो तक चक्रवर्ती अरह राज्य सचालन करते रहे।

वैराग्य—अपने पूर्वभव का विचार कर अरह सोचने लगे कि "यह जीवन नश्वर है, अन्त मे इसे समाप्त हो जाना है।" इस तरह विचार कर अरह ने दीक्षा ग्रहण कर ली। समीप के वन मे जाकर वे तपस्या मे लीन हो गये। अरह मुनि ने तीन वर्ष तक कठोर तपस्या की। एक दिन वे ध्यान मे लीन थे। ध्यान की विभिन्न श्रेणियो को पार करके उन्होने केवल ज्ञान प्राप्त किया। वे तीर्थ कर हो गये। अरह से अरहनाथ हो गये। इनके कुम्भार्य आदि तीस गणधर तथा सब प्रकार के ६० हजार मुनि, यक्षि आदि एक हजार आर्यिकाए भगवान के सघ मे थी। महेन्द्र यक्ष, विजया यक्षी थी। बहुत वर्षो तक तीर्थ कर अरहनाथ ने प्राणियो के कल्याण के लिये धर्मोपदेश दिये। अन्त मे वे सम्मेद शिखर पर पहुंचे। वहा उन्होने तीर्थ कर की अन्तिम साधना पूर्ण की तथा मगसर सुदी १० को मोक्ष प्राप्त किया।

———

(उन्नीसवें तीर्थंकर)

मल्लिनाथ

मल्लिनाथ ने महाबल के जन्म मे तीर्थ करत्व की साधना की थी। वही जन्मान्तर मे तीर्थ कर मल्लिनाथ हुये।

वीतशोका नगरी मे राजा बल राज्य करते थे, उनकी रानी का नाम धारिणी था। उनका पुत्र महाबल था। उसके छ बाल मित्र थे। उनमे प्रगाढ स्नेह था। वे हर क्षण साथ रहना चाहते। उन्होने जन्म जन्मान्तरो मे भी साथ रहने का सकल्प किया।

राजा बल अपने पुत्र महाबल को राज देकर धर्मघोष मुनि के पास दीक्षित हो गये। महाबल राज्य का सचालन करने लगा। पर वह अपने मित्रो को न भूल सका। उसके मित्र भी उसे न भूल पाते। राज्य की दीवार उनके प्रगाढ प्रेम को न तोड पायी।

एक बार पुन धर्मघोष मुनि वीतशोका नगरी पधारे। महाबल उनके दर्शन करने के लिये गया। उनके उपदेश सुनकर उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। लौटकर उसने मित्रो से कहा—'मैं अब सयम धारण करूगा।'

मित्र बोले—'हम भी संयम धारण करेंगे। ससार और मोक्ष दोनो मे हम साथ-साथ रहेगे।'

सातो मित्रो ने दीक्षा ले ली। वे विभिन्न प्रकार से तपस्या करने लगे। सब एक से नियम व व्रत लेते, एक जैसी ही तपस्या

करते।

एक बार महाबल के मन मे विकल्प आया—'मैं इन सबमे श्रेष्ठ हूँ। मुझे श्रेष्ठ बने रहना चाहिये।' उसका मन श्रेष्ठता की सीमा-रेखा मे बध गया। सबके साथ वे तपस्या के जो नियम आदि लेते, उनके अतिरिक्त और भी तपस्या करते रहते। उन्होने तीर्थंकरत्व के बीस स्थानो और सोलह कारण भावनाओ की साधना की।

जन्मान्तर मे कुम्भ मिथिला के राजा के यहा पुत्री हुई। उनकी माता का नाम प्रभावती था। महाबल के जन्म में छद्म पूर्वक तपस्या करने के कारण उन्हे स्त्री योनि मे जन्म लेना पड़ा।

मल्लि कुमारी अत्यन्त लावण्यवती थी। यौवनावस्था मे उसका रूप और भी अधिक निखर आया था। जो भी उसे देखता, चकाचौंध हो जाता, उसके रूप की चर्चा सुनता, मुग्ध हो जाता। उसे पाने की आकाक्षा करने के लिये विवश हो उठता। दूर-दराज तक उसके रूप-लावण्य की चर्चा फैल गयी।

साकेत पुरी के राजा प्रतिबुद्ध था। उसने मल्लिकुमारी के सौदर्य की चर्चा सुनी वह उसे पाने के लिये आकुल हो उठा। घटना इस प्रकार हुई—

एक बार प्रतिबुद्ध ने अपनी महारानी पद्मावती के लिये नाग यात्रामहोत्सव का आयोजन किया। महाराजा और महारानी नागगृह पहुँचे। वहा मालाकारो ने महारानी को एक अत्यन्त सुन्दर गुलदस्ता भेंट किया। राजा रानी उसे देखकर बहुत खुश हुये। मालाकारो के प्रति उनके मन मे प्रशसा उठ खडी हुई। उन्होने सुबुद्धि नामक राजप्रमुख से पूछा—'भद्र। तुम राजकार्य से अनेक नगरो मे घूमते हो, राजभवनो को जाते हो। कही इतना सुन्दर दामगुच्छ देखा ?'

सुबुद्धि बोला—'महाराज अपराध क्षमा हो! मैंने जो गुल्दस्ता देखा है, वह इससे लाख गुणा सुन्दर है।'

महारानी और महाराजा की उत्सुकता बढी वे सुबुद्धि की ओर जिज्ञासा-भरी नजरो से देखने लगे। सुबुद्धि ने फिर कहा—'एक बार मैं मिथिला गया था। महाराजा कुम्भ की पुत्री मल्लि-कुमारी का जन्मोत्सव था। राजकुमारी का दामगुच्छ देखकर मैं ठगा सा रह गया। इतना सुन्दर दामगुच्छ मैंने पहले कही नही देखा। राजकुमारी के सौदर्य से उसका आकर्षण सहस्त्रगुणा बढ गया था। प्रभु! न मैंने ऐसी रूप की देवी राजकुमारी देखी, न इतना अद्भुत दामगुच्छ।'

सुबुद्धि से मल्लिकुमारी के रूप-सौंदर्य की चर्चा सुनकर प्रति-बुद्ध मल्लिकुमारी को पाने का उपाय सोचने लगा।

चम्पा नरेशचन्द्र ने अर्हन्नक नामक उपासक से पूछा—'भद्र तुम ग्रामानुग्राम घूमते हो। कही कोई आश्चर्यजनक वस्तु देखी हो तो बताओ।'

अर्हन्नक बोला—'देव मैं एक बार मिथिला गया हुआ था। वहाँ महाराज कुम्भ को दिव्य कुण्डल भेंट किये। महाराज की पुत्री ने वे कुन्डल पहनें। राजकुमारी का लावण्य देखकर मैं भौंचक्का रह गया। इतना सौंदर्य मैंने पहले कभी नही देखा था।'

चन्द्र अर्हन्नक से मल्लिकुमारी के सौंदर्य की चर्चा सुनकर उसे पाने के लिये व्याकुल हो उठा।

सावत्थी मे कुणालाधिपति रूप्पी का राज्य था। उनकी पुत्री सुबाहु बडी रूपवती थी। राजकुमारी के जन्मोत्सव का विशाल आयोजन किया गया। राजा ने सुवर्णकार मण्डल को बुलाकर आज्ञा दी—'राजमार्ग मे पुष्प मण्डप की रचना कराओ। मडल के मध्य पाच रग के दिव्य पुरुषो से नगरी की रचना करो।'

राजा की आज्ञानुसार पुष्प मण्डप और नगरी की रचना की गई। राजकुमारी को सुगंधित जल से स्नान कराया गया। सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनाये गये। सज-धज कर कुमारी पितृ-वदन के लिये आयी। राजा अपनी बेटी का रूप-लावण्य देखकर पुलकित हो उठा। वह हर्ष से गदगद हो गया। वरिष्ठ राजपुरुषो की ओर देखता हुआ बोला—'सुबाहु जैसा रूप-लावण्य आपने अन्यत्र भी कही देखा ?'

सबने राजकुमारी की प्रशंसा की परन्तु एक वर्णधर बोला—'देव अपराध क्षमा हो। एक बार मैं राज कार्य से मिथिला गया था। वहा राजकुमारी मल्लि को देखा। उसकी तुलना मे सुबाहु का सौंदर्य सहस्त्राश भी नही।'

राजा का दर्प गल गया। वह सोच मे पड गया। उसने निश्चय किया कि वह हर प्रयत्न से ऐसी अदभुत राजकुमारी को प्राप्त करेगा।

मिथिला के दो स्वर्णकार काशी पहुँचे। राजा ने उन्हे देश निकाला दे दिया था। काशी नरेश शख से उन्होने आश्रय मांगा। नरेश ने निर्वासन का कारण पूछा। स्वर्णकारो ने बताया—'महाराज, मिथिला की राजकुमारी के कुण्डलो की संधि न खोल सकने के कारण हमे देश छोडना पडा।' स्वर्णकारो ने मल्लि के अद्वितीय रूप की भी चर्चा की। काशी-नरेश यह सुनकर उस अनिन्द्य सुन्दरी को प्राप्त करने के लिये लालायित हो उठा।

मल्लि कुमारी के कनिष्ठ भाई मल्लदिन्न कुमार ने अपने प्रमदवन मे चित्रशाला बनायी। चित्रकार बहुत कुशल थे। एक ने मल्लि कुमारी का अगुष्ठ देख रखा था। उसी आधार पर उसने उसके पूरे चित्र का अकन कर दिया। कुमार ने देखा उसे

लगा यह राजकुमारी ही है, वह पीछे हट गया। बाद मे उसे पता चला, बडा क्रोधित हुआ। चित्रकार को देश निकाला दे दिया गया।

चित्रकार कुरू जनपद पहुंचा। वहा के नरेश को मल्लि कुमारी का चित्र भेंट किया। चित्र देखकर कुरूराज मोहित हो गये। उन्होने निश्चय किया कि वे इस सुन्दरी को अवश्य प्राप्त करेंगे।

एक बार एक परिव्राजिका मिथिला आयी। धर्म-चर्चा के प्रसग मे राजकुमारी मल्लि ने उससे कुछ प्रश्न किये। वह उनका उत्तर न दे पाई। उसने अपमान महसूस किया। उसके मन मे बदले की भावना जागी।

वह कम्पिलापुर पहुंची। वहा नरेश को मल्लि के रूप की चर्चा सुनाई, वह सुनकर मुग्ध हो गया और राजकुमारी को पाने का उपाय सोचने लगा। मल्लि कुमारी के लिये नरेशो के सदेश आने लगे।

सदेशो मे पहले तो अनुरोध होता, फिर आगाह किया गया होता। अन्त मे यह धमकी भी होती—'यदि आपने मल्लि कुमारी का विवाह मुझसे न कराया तो मैं राज्य पर चढाई कर दू गा और राजकुमारी को छीनकर ले आऊ गा।'

राजा प्रतिदिन के इन सदेशो से चिन्तित हो उठा। उसे कोई उपाय न सूझ रहा था।

मल्लिकुमारी को यह पता चला। उसने अपने पिता से कहा—'तात आप चिन्तित न हो। सभी राजाओ को सादर आमन्त्रित करें, मैं सम्भाल लूंगी।' राजा को कुमारी के बुद्धि बल पर विश्वास था। उसकी चिन्ता कुछ कम हुई। राजकुमारी के बताये अनुसार सारी व्यवस्था की गई। उसने अपने समान

आकार की एक अत्यन्त सुन्दर स्वर्ण कन्या बनवाई—मल्लि के रूप और लावण्य की तत्सम प्रतिकृति। उसे प्रमदवन मे स्थापित कराया।

वह भोजन के बाद प्रतिदिन एक ग्रास उस स्वर्ण पुतली के भीतर डलवा देती। ऐसा करते-करते बहुत दिन बीत गये।

नरेशो के आने की तिथिया निकट आ गयी। प्रमदवन के निकट ही मोहन घर का निर्माण किया गया। उसमे अनेक प्रकोष्ठ थे। सब अपने मे पूर्ण और स्वतन्त्र। सभी के वातायन प्रमदवन की ओर खुलते थे।

नरेशो का आना प्रारम्भ हो गया। उन्हें अत्यन्त आदर और सम्मान के साथ अलग अलग प्रकोष्ठो मे ठहराया गया। उनकी सुख सुविधा का राजोचित प्रबन्ध किया गया। सब अपने मे बेखबर' किसी को एक दूसरे के आगमन का पता न था सभी को राजकुमारी से मिलने की आस लगी हुई थी।

नरेशो ने वातायानो से देखा, राजकुमारी प्रमदवन मे आई है। वे उसे देखते ही रहे। उसकी आखे न झपकती। जैसा सुना था। उससे भी बढकर रूप। सचमुच स्वर्गलोक की अप्सरा से भी सुन्दर। सब सोचते रहे—'इस राजकुमारी को पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊ गा।' प्रत्येक राजा अपने भाग्य को सराह रहा था। प्रत्येक अलग-अलग आस बांधे बैठा था।

इतने मे उस स्वर्ण पुतली का ढक्कन खुला उससे सड़ास के झोके निकलकर मोहन गृह मे भरने लगे। सारा प्रमदवन और मोहन गृह दुर्गन्ध से भर गया। उस असह्य सडाँस मे खडे रहना भी सम्भव न था, नरेशो ने अपनी नाक भीची। परन्तु दुर्गन्ध के झोके आकर उनके मन-प्राण मे व्याप्त होने लगे। उन्हे वहा एक क्षण भी ठहरना मुश्किल हो गया, वे अपनी-अपनी

जान बचाकर भागे।

तभी एक स्निग्ध गम्भीर आवाज सुनाई दी—'आप सब हमारे मान्य अतिथि हैं, ठहरें और हमारा आथित्य स्वीकार करें। सभी नरेश ठिठक कर रुक गये। उन्होने देखा, सामने एक अनिन्द्य सुन्दरी खडी है। वे सोचने लगे—'तब वह प्रमदवन मे कौन थी? क्या वह राजकुमारी न थी?'

राजकुमारी ने कहा—'आपको कष्ट हुआ, हमे खेद है। आप सब जिस पर मोहित हो गये, वह तो स्वर्ण कन्या थी। आप सबका मोह भग करने के लिये ही मैंने उसका निर्माण कराया था। यह असहय दुर्गन्ध उसी स्वर्ण-कन्या मे प्रतिदिन डाले गये एक-एक ग्रास की सडास थी। अब आप ही बताये कि जब एक-एक ग्रास की सडास इतनी असहय हो सकती है तो इस मनुष्य देह के भीतर सचित नाना द्रव्यो की सडास कितनी होगी।'

राजकुमारी कहती गयी—'आप सब हमारे पूर्व जन्म के अभिन्न मित्र हो। मेरा कर्त्तव्य था कि आप सबके मोह को तोडू। हमे ऐसे सयम की साधना करनी चाहिये जिससे इस नश्वर शरीर का बन्धन सदा के लिये छूट जाये। बोलो, तुम्हे भगवती दीक्षा चाहिये या मल्ली भगवती?

नरेशो का सचमुच मोह भग हो चुका था। उन्होने सयम धारण करने का सकल्प किया। राजकुमारी ने भी अपने परिजनो को दीक्षित होने का निश्चय बता दिया, उनकी दीक्षा भी एक महोत्सव बन गयी।

मल्लिकुमारी ने अपने पूर्वजन्मो मे कठोर साधना की थी। इस जन्म मे उन्हें अधिक समय तक तपस्या न करनी पडी। जिस दिन उन्होने दीक्षा धारण की उसी दिन जब वे अशोक

वृक्ष के नीचे ध्यान लगाये थी, तभी उन्हे केवल ज्ञान हो गया। वे मल्लि से तीर्थ कर मल्लिनाथ हो गये।

तीर्थंकर मल्लिनाथ की समवशरण सभाओ का आयोजन होने लगा। आत्म कल्याण के इच्छुक सहस्त्रो नर-नारियो ने उनके धर्मोपदेश सुनकर सयम स्वीकार कर लिया। बहुत वर्षों तक उनके दिव्य उपदेश होते रहे। अन्त मे वे सम्मेद शिखर पर पधारे, वहा शेष साधना पूर्ण की और फागुन सुदी १२ को मोक्ष प्राप्त किया।

(बीसवें तीर्थंकर)

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ

मुनि सुव्रतनाथ बीसवें तीर्थ कर थे। सूरश्रेष्ठ के जन्म मे इन्होने तीर्थं करत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय—जम्बू द्वीप के ऊपर महाविदेह स्थित भारत-विजय मे चम्पा नाम की एक विशाल नगरी थी। सूर-श्रेष्ठ नाम का श्रेष्ठ राजा राज्याधिपति था। वह दानवीर, रण-धीर, आचारवीर और धर्मवीर था। उनके श्रेष्ठ पराक्रम से प्रभावित होकर अन्य सभी राजा उसके सामने झुकते थे। एक वार नन्दन नाम के मुनि चम्पानगरी के उद्यान मे पधारे। वदना करके धर्मोपदेश का श्रवण किया। राजा का उत्थान काल आ गया था। वह विरक्ति होकर प्रव्रजित हो गया और उत्तम रीति से चरित्र का पालन कर तीर्थं कर नाम-कर्म को निकाचित करके, प्राणत नामक दसवे स्वर्ग मे गया। यही सूरश्रेष्ठ जन्मान्तर मे तीर्थ कर मुनिसुव्रत हुए।

वर्तमान परिचय—मगध देश मे राजगृही नाम का नगर था। हरिवश मे उत्पन्न सुमित्र नाम का राजा वहा राज करता था। वह नीतिवान, न्याय-परायण, प्रवल, पराक्रमी और जिन

धर्म का अनुयायी था। महारानी पद्मावती उसकी पटरानी थी। वह भी सुशील-व्रती उत्तम महिलाओ के गुणो से युक्त और रूप-लावण्य से अनुपम थी। राजा-रानी का भोग जीवन सुखमय व्यतीत हो रहा था।

जन्म—सुरश्रेष्ठ मुनिराज का जीव, प्राणत कल्प का अपना आयुष्य पूर्ण करके श्रावण शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि को श्रवण-नक्षत्र के योग मे महारानी पद्मावती के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। महाराजा सुमित्र से स्वप्न-फल जानकर महारानी हर्षित हो उठी। गर्भकाल का समय पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-वदी अष्टमी की रात को श्रवण-नक्षत्र मे पुत्ररत्न का जन्म हुआ। दिशाकुमारियो ने सूति-कर्म किया। इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया और पुत्र के गर्भ मे आने पर माता, मुनि के समान सुव्रतो का पालन करने में अधिक तत्पर बनी इससे महा-राजा सुमित्र देव ने पुत्र का नाम 'मुनिसुव्रत' रखा।

शनै शनै सुव्रत यौवन की सीमा की ओर बढने लगे और यौवनवय मे प्रभावती आदि राज-कन्याओ के साथ आपका विवाह हुआ। साढे सात हजार वर्ष तक कुमार अवस्था मे रहने के बाद पिता ने आपको राज्याधिकार प्रदान किये। पन्द्रह हजार वर्ष तक आपने राज्यभार वहन किया। भोगावली कर्म का क्षय होने पर लोकान्तिक देवो ने आकर निवेदन किया और आपने वार्षिक दान देकर फाल्गुन-शुक्ला प्रतिपदा को श्रवण नक्षत्र मे दिन के चौथे पहर मे बेले के तप सहित एक हजार राजाओ के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। आपको तत्काल मन पर्यय ज्ञान हुआ। ग्यारह मास तक मुनिसुव्रत कठोर साधना करते रहे। फिर फाल्गुन कृष्ण बारह को श्रवण नक्षत्र में, राजगृह के नीलगुहा

उद्यान मे, चम्पक वृक्ष के नीचे, शुक्ल ध्यान की उन्नत धारा मे चारो घातिया कर्मों का क्षयकर केवल ज्ञान प्राप्त किया। देवो ने समवशरण रचा। प्रभु ने धर्मदेशना दी—'समुद्र मे भरा हुआ खारा-पानी मनुष्यो और पशुओ के पीने के काम मे नही आता, किन्तु उसमे रहे हुये रत्नो को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जाता है। उसी प्रकार विषय कषाय रूपी खारे पानी मे लबालब भरे हुये ससार-समुद्र मे भी उत्तम रत्न रूप धर्म रहा हुआ है। वह धर्म, सयम, (हिंसा-त्याग) सत्य-वचन, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता ये दस प्रकार का है। अपने शरीर मे भी इच्छा-रहित ममत्व-वर्जित, सत्कार और अपमान करने वाले पर समान दृष्टि, परीषह एव उपसर्ग को सहन कर सकने मे समर्थ, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना युक्त हृदय, क्षमाशील, विनयवन्त, इन्द्रियो को दमन करने वाला, गुरु के अनुशासन मे श्रद्धायुक्त रहने वाला और जाति-कुल आदि से सम्पन्न मनुष्य ही अनागार धर्म के योग्य होता है।

जिन धर्म को पाने की योग्यता प्राय उसी मे होती है, जिसकी आत्मा मे कषाय की मन्दता हो गई हो और जिसका गृहस्थ जीवन भी धर्मप्राप्ति के अनुकूल हो।

जिन मनुष्यो मे ये सामान्य गुण भी होते हैं, वे विशेष धर्म धारण करने के योग्य होते हैं।' इस प्रकार तीर्थंकर मुनिसुव्रत की धर्म-देशना से प्रभावित हो अनेक नर-नारियो ने सयम स्वीकार कर लिया।

तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के इन्द्रादि १८ गणधर हुये। तीस हजार साधु थे। पचास हजार साध्विया थी। पाच सौ चौदह पूर्वधर थे, अठ्ठारह सौ अवधिज्ञानी थे। पन्द्रह सौ मन पर्यवज्ञानी, अठ्ठारह सौ केवलज्ञानी, सत्तरह लाख दो हजार श्रावक व तीन लाख पचास हजार श्रविकाए हुई। निर्वाणकाल निकट होने पर भगवान सेम्मेद शिखर पर पधारे और एक हजार मुनियो के साथ अनशन किया। एक मास के अन्त में ज्येष्ठ वदी ६ को श्रवण नक्षत्र मे मोक्ष पधारे।

तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के समय मे ही अयोध्या मे दशरथ के यहाँ राम ने जन्म लिया। राम का एक नाम पद्म भी था। पद्म 'बलभद्र' थे। उनके छोटे भाई लक्ष्मण वासुदेव थे। रावण प्रतिवासुदेव था।

(इक्कीसवें तीर्थंकर)

भगवान नमिनाथ

नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थ कर थे। सिद्धार्थ के जन्म मे उन्होने तीर्थ करत्व की साधना की थी।

पूर्वभव परिचय—जम्बू द्वीप के पश्चिम-विदेह के भरत विजय मे 'कौशाम्बी' नाम की अति रमणीय नगरी थी। वहा 'सिद्धार्थ' नाम का राजा राज्य करता था। वह गभीर्य, उदारता धैर्य और सदाचारादि गुणो से सुशोभित था। कालान्तर मे 'सिद्धार्थ' ने सुदर्शन मुनि से तीर्थ कर चरित्र सुने, उन्हे अपने जीवन मे सार्थकता देने के लिये स्वय मुनि दीक्षा ले ली और साधना करने लगे। सयम तथा तप की शुद्धता एव उत्तमता पूर्वक आचरण करते हुये तीर्थ कर नाम कर्म का बन्ध किया और आयु पूर्ण कर अपराजित नाम के अनुत्तर विमान मे अह-मिन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुये। यही सिद्धार्थ कालान्तर मे तीर्थ कर नमिनाथ हुये।

वर्तमान परिचय—जम्बू द्वीप के भारत क्षेत्र मे मिथिला नाम की नगरी थी। महाप्रतापी एव उच्च-वशीय महाराजा विजय वहा के अधिपति थे। उनकी महारानी वप्रा थी। रूप और शील मे श्रेष्ठ।

जन्म—सिद्धाथ देव अपनी देवायु पूर्ण कर अश्विन पूर्णिमा की रात मे, अश्विनी नक्षत्र मे महारानी वप्रा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। महाराजा

विजय ने स्वप्नफल बताये, सुनकर महारानी वप्रा की खुशियो का पारावार न रहा। गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण-कृष्णा अष्टमी की रात्रि को, अश्विनी नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। आसनकम्पादि से तीर्थंकर का जन्म हुआ जानकर इन्द्रादि देव उपस्थित हुये और तीर्थंकर जन्म का उत्सव किया।

जिस समय तीर्थंकर का यह जीव माता के गर्भ मे आया, उसके पूर्व से ही मिथिला नगरी शत्रुओ से घिरी हुई थी। गर्भ के प्रभाव से माता के मन में नगर की स्थिति देखने की इच्छा हुई। वह भवन के ऊपर की छत पर चढकर देखने लगी। उन की दृष्टि शत्रु सेना पर पडी। माता की दृष्टि पडते ही शत्रुदल के अधिपतियो की मति पलटी, उन्हे अपनी अल्पशक्ति और मिथिलेश की प्रबल शक्ति का मान हुआ और भावी अनिष्ट की आशका हुई। उन्होने तत्काल घेरा उठा लिया और मिथिलेश विजय राजा से सन्धि चर्चा की। शत्रु दल झुक गया और मिथि-लेश के सामने आकर नमन किया। सकट टल गया और बिना लडाई के ही विजय प्राप्त हो गई। इस अनायास परिवर्तन को गर्भस्थ जीव का पुण्य-प्रभाव मानकर माता-पिता ने बालक का नाम 'नमि कुमार' रख दिया।

नमि के वयस्क होने पर उनका विवाह किया गया। जन्म से ढाई हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता ने आपका राज्या-भिषेक करके सारा भार सौप दिया। पाच हजार वर्ष तक आप ने राज्य किया।

वैराग्य—'नमि कुमार ने आषाढ कृष्णा नौवी को अश्विनी नक्षत्र मे, दिन के अन्तिम प्रहर मे, वेले के तप सहित, एक हजार राजाओ के साथ प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

प्रव्रज्या स्वीकार करते ही नमि मुनि को मन.पर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ। दूसरे दिन वीरपुर मे नरेश के यहां

आपका क्षीर से पारणा हुआ।

आप ग्रामानुग्राम विचरने लगे। नौ माह तक नमि ने कठोर तपस्या की। एक दिन वे मौलश्री वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न थे। ध्यान की विभिन्न श्रेणिया पार करके वे शुक्ल ध्यान मे पहुँचे और घातिया-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। वे नमि से नमिनाथ हो गये, समदर्शी हो गये, सर्वज्ञ हो गये।'

तीर्थकर नमिनाथ की समवशरण सभाओ का आयोजन होने लगा, वे प्राणिमात्र के कल्याण के लिये धर्मोपदेश देने लगे—

'यह ससार असार है। धन-सम्पति नदी की तरग के समान चचल है और शरीर बिजली के चमत्कारवत् नाशवान् है। इसलिये बुद्धिमान और चतुर मनुष्यो का कर्त्तव्य है कि ससार, सम्पति और शरीर, इन तीनो का विश्वास नही रखकर, मोक्ष मार्ग की सर्व आराधना रूप यतिधर्म का पालन करें। यदि श्रमण धर्म स्वीकार करने जितनी शक्ति न हो तो उसकी अभिलाषा रखते हुये सम्यक्त्व सहित बारह प्रकार के श्रावक धर्म का पालन करने के लिये तत्पर रहे।

फिर जिन धर्म की प्राप्ति स्वरूप श्रावकपन की अनुमोदना करता हुआ विचार करे कि, 'मैं उस चक्रवर्तीपन को भी चाहता नही जिनमे जिन धर्म की छाया से वचित रहना पडे मिथ्यात्व युक्त चक्रवर्तीपने से तो सम्यक्त्व युक्त दरिद्रता एव किकरता ही अच्छी है।

इस प्रकार मुक्ति-महल मे चढने की निसरणी रूप गुण-श्रेणी मे चढने के लिये परम आनन्दकारी मनोरथ सदैव करते ही रहना चाहिये। इस प्रकार दिन रात की चर्या का प्रमाद रहित होकर पालन करता हुआ और अपने व्रतो मे पूर्ण रूप से स्थिर रहता हुआ श्रावक, गृहस्थावस्था मे भी विशुद्ध होता है। उनका

धर्मोपदेश सुनकर अनेक भव्यजीव प्रव्रजित हुये। अनेकों ने श्रावकव्रत धारण किये। कुम्भ आदि सत्तरह गणधर हुये। वीस हजार साधु, इकतालीस हजार साध्विया, चार सौ पचास, चौदह पूर्वधर, सोलह सौ अवधिज्ञानी, बारह सौ साठ मन पर्यायज्ञानी, सोलह सौ केवलज्ञानी, एक लाख सत्तर हजार श्रावक तथा चौंतीस लाख आठ हजार श्राविकाए हुई।

मोक्षकाल निकट आने पर भगवान सम्मेद शिखर पर पधारे और एक हजार मुनियो के साथ अनशन किया। एक मास के अनशन के बाद वैसाख कृष्णा दसवी को, अश्विनी नक्षत्र के योग मे' प्रभु समस्त कर्मों का अन्त करके मोक्ष को प्राप्त हुये।

तीर्थ कर भगवान नमिनाथ जी की विद्यमानता मे ही हरि-सेन नाम के दसवें चक्रवर्ती सम्राट हुये तथा इन्ही के तीथ मे ही जयसेन नाम के चक्रवर्ती भी हुये।

(बाइसवें तीर्थंकर)

भगवान नेमिनाथ (अरिष्टनेमिजी)

नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर थे। शख के जन्म से इन्होने तीर्थ करत्व की साधना की थी।

पूर्वभव जन्म—

शख हस्तिनापुर के अधिपति श्रीषेण के पुत्र थे। वे एक पराक्रमी और प्रतिभा सम्पन्न युवा थे, उनके शौर्य की ख्याति थी।

अंग देश की चम्पा नगरी के जितारी राजा की कीर्तिमती रानी से अनेक पुत्रो के बाद एक पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम यशोमती था। वह इन्द्राणी के समान अनुपम सुन्दरी और सदगुणो की खान थी। यौवनवय मे आने पर राजा को उसके लिये वर की चिन्ता हुई। कई राजाओ और राजकुमारो ने राजकुमारी के लिये राजा से याचना की किन्तु यशोमती तो एक प्रकार से पुरुष-द्वेषिनी बन गई। उसने सखी के द्वारा राजा से कहकर सभी की मांगें ठुकरा दी, एक दिन यशोमती की सखी ने, हस्तिनापुर नरेश श्रीषेण के पुत्र शखकुमार की प्रशसा की। यशोमती के मन मे शखकुमार के लिये प्रीति उत्पन्न हो गई। उसने सखी के द्वारा पिता को संदेश भेजकर शखकुमार से लग्न करने की इच्छा व्यक्त की। राजा पुत्री की इच्छा जानकर

प्रसन्न हुआ और श्रीषेण राजा के पास अपने मन्त्री को भेजकर सम्बन्ध की याचना की। इतने मे विद्याधर नरेश मणिशेखर ने जितारी राजा के पास राजकुमारी की माँग भेजी। राजा ने उत्तर दिया—

'मेरी कन्या ने शख कुमार से लग्न करने का निश्चय कर लिया है, अब इसमे परिवर्तन नही हो सकता।'

विद्याधर क्रोधित हो गया और यशोमती का अपहरण कर लिया। ये बात शख यशोमती की सखी से सुन उसकी सहायता करने चल पडा। हठात उसकी दृष्टि एक खोह पर पडी और एक स्त्री और पुरुष दिखाई दिये। शख तत्काल वहा पहुचा और उसी दिशा मे चल दिया, थोडी ही देर मे वह उनके निकट जा पहुचा। उसने देखा—मणिशेखर यशोमती को बलात्कार पूर्वक वश मे करना चाहता था और यशोमती उसकी भर्त्सना करती हुई कह रही थी—

'नीच! मैं पर-स्त्री हूँ। मैंने अपने हृदय से पुरुष-श्रेष्ठ शख कुमार को वरण कर लिया है। अब मैं दूसरे पुरुष की छाया से भी दूर रहना चाहती हू।'

यशोमती बोल ही रही थी कि शखकुमार वहा पहुच गया। उसे देखते ही मणिशेखर ने कहा—'यह तेरा प्रियतम, मृत्यु से आकर्षित होकर यहाँ आ पहुँचा है। मैं इसे अभी मृत्यु का ग्रास बना देता हूँ।'

'ऐ लम्पट, दुराचारी! वाचालता छोडकर इधर आ। मैं तुझे तेरे दुराचरण का दण्ड देने ही यहा आया हूँ।' शखकुमार ने हुँकार भरी।

दोनो योद्धा खडग लेकर जूझ पडे। बहुत देर तक लडने पर भी जब मणिशेखर सफल नही हुआ तो वह विद्या सिद्धि अस्त्रो का प्रहार करने लगा। किन्तु कुमार के पुण्य उदयमान

थे। उसने सभी अस्त्रो को नष्ट करके एक बाण मणिशेखर के हृदय मे मार दिया। मणिशेखर घायल हो भूमि पर गिर पडा और अचेत हो गया। कुमार ने उसे शीतल जल और वायु के उपचार से स्वस्थ किया और पुन युद्ध करने का आह्वान किया। मणिशेखर, शखकुमार की शक्ति का परिचय पा चुका था, उसने कहा—

'हे वीर पुरुष! मैं आज तक अजेय रहा था। कोई भी वीर पुरुष मेरे सामने टिक नही सका। आप पहले पुरुष है जिन्होने साहस, बल और कौशल से मुझे पराजित कर दिया। अब मैं स्वय ही आपका सेवक हो गया हूँ।'

'नही नही, आप ऐसा क्यो सोचते हैं? कहिये मैं आपका क्या हित कर सकता हूँ।' कुमार ने उत्तर दिया।

'यदि आप प्रसन्न हैं तो आप यशोमती सहित मेरे यहा चलिये और मेरी पुत्री को भी ग्रहण करने की कृपा करिये।'

सब मणिशेखर के साथ उसकी राजधानी कनकपुर मे आये। कुछ काल कनकपुर मे रहने के बाद कुमार ने स्वस्थान जाने की इच्छा प्रकट की। मणिशेखर और अन्य विद्याधर अपनी पुत्रियो का लग्न, शख के साथ करना चाहते थे, परन्तु शंख ने पहले यशोमती के साथ लग्न करने के बाद दूसरी कन्याओ को ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। मणिशेखर और अन्य विद्याधर अपनी पुत्रियो को यशोमती और कुमार के साथ लेकर चम्पा नगरी आये। जितारी नरेश और उनका परिवार अपनी खोई हुई राजकुमारी और साथ ही इच्छित दामाद को पाकर बडे प्रसन्न हुये। उत्सव के साथ ही यशोमती का लग्न शखकुमार के साथ हो गया। इसके बाद अन्य विद्याधर कुमारियो के लग्न भी शखकुमार के साथ किये गये। कुछ दिन वहा रहने के बाद राजकुमार अपनी रानियो के साथ हस्तिनापुर आया। श्रीषेण

महाराज ने युवराज शख का राज्याभिषेक करके गणधर महाराज गुणधर के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की और तपस्या करने लगे। वर्षो तक विशुद्ध चारित्र और घोर तप का पालन कर घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञानी हो गये। एक बार केवली भगवान हस्तिनापुर पधारे शख नरेश ने भगवान का धर्मोपदेश सुना।

उपदेश सुनकर शख बोले—भगवन। मेरा यशोमती पर इतना स्नेह क्यो है, जिससे कि मैं चाहकर भी सयम नही ले सकता?

केवल मुनि ने पूर्व जन्म का परिचय देते हुये कहा—शख! तुम जब धन कुमार भव मे थे तब यह तुम्हारी पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक मे भी तुम दोनो पति-पत्नी के रूप मे रहे। तीसरे भव मे विद्याधर चित्रगति के जन्म मे भी पति-पत्नी रहे और चौथे भव मे माहेन्द्र देवलोक मे तुम दोनो मित्र थे। फिर पाचवे अपराजित के भव मे भी तुम दोनो पति-पत्नी के रूप मे थे। छठे जन्म मे आरण देवलोक मे भी दोनो देव हुये। यह सातवा जन्म है, यहाँ तुम पति-पत्नी के रूप मे हो। पूर्वभव के दीर्घकालीन भवो के कारण तुम्हारा इसके साथ प्रगाढ प्रेम चल रहा है।

केवली मुनि की बात सुनकर उन्होने सन्यस्त होने की घोषणा कर दी। निर्मल सम्यक्त्व दर्शन की आराधना करते हुये उन्होने तीर्थ कर नाम-कर्म का बन्ध किया। यही शख जन्मान्तर मे तीर्थ कर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) हुये।

जन्मपूर्व के सदर्भ—संकेत—

शौरीपुर मे महाराजा समुद्र विजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा देवी था। शिवा देवी ने रात्रि के अंतिम पहर मे चौदह महास्वप्न देखे। उसी समय शख देव का जीव,

शिवा देवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। शिवा देवी जागृत हो राजा समुद्र विजय के पास पहुची और स्वप्न दर्शन का वर्णन किया। राजा ने बताया कि भावी तीर्थकर भगवान का गर्भावतरण हुआ है। रानी स्वप्न फल सुनकर हर्षित हो उठी।

शिवा देवी ने गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण शुक्ला पचमी की रात्रि मे श्याम वर्ण और शख लक्षण वाले पुत्र को जन्म दिया। छप्पन दिक् कुमारिया आई, इन्द्र आये, और विधिवत जन्माभिषेक हुआ। राजा समुद्र विजय ने भी पुत्र जन्मोत्सव किया। गर्भकाल मे माता ने स्वप्न मे अरिष्टमय चक्रधारा देखी थी, इसलिये पुत्र का नाम 'अरिष्टनेमि' रख दिया

एक बार अरिष्टनेमि, अन्य कुमारो के साथ क्रीडा करते हुये श्रीकृष्ण वासुदेव की आयुधशाला मे आये (अरिष्टनेमि वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे), उन्होने वहा सूर्य के समान प्रकाशमान सुदर्शन चक्र देखा। उन्होने सारग धनुष, कौमुदी गदा, पचजन्य शख, खड्ग आदि उत्तम शस्त्रादि देखे। अरिष्टनेमि ने पचजन्य शख लेने की चेष्टा की। यह देखकर शस्त्रागार के अधिपति चारुकृष्ण ने निवेदन किया—

'कुमार! आप राजकुमार है और बलवान भी हैं परन्तु यह शख उठाने मे आप समर्थ नही है, फिर बजाने की तो बात ही कहा है। इसे उठाने और फूकने की शक्ति एकमात्र त्रिखडाधिपति महाराजाधिराज श्रीकृष्ण मे ही है।'

अधिकारी की बात पर नेमि को हसी आ गयी। उन्होने सहजता से शख उठाया और फूका। उस शख से निकली गम्भीर ध्वनि से चर-अचर कम्पित हो उठा। श्रीकृष्ण, वासुदेव और दशार्हगण आदि भी क्षुभित हो आश्चर्य मे पड गये। श्री कृष्ण सोचने लगे—'शख किसने फूका ? क्या कोई नया वासुदेव उत्पन्न हो गया या इन्द्र का प्रकोप हुआ है ? जब मैं शस्त्र

फूंकता हूँ तो राजागण और लोग क्षुब्ध होते हैं परन्तु इस शङ्ख-वादन से तो मैं भी क्षुब्ध हो गया हूँ।'

इतने मे शस्त्रागार-रक्षक ने उपस्थित होकर अरिष्टनेमि द्वारा शख बजाये जाने की बात बतायी। सुनकर श्रीकृष्ण स्तब्ध रह गये। इतने मे नेमि भी वही आ गये। कृष्ण ने उन्हे प्रेम मे आलिंगन-बद्ध कर कहा—'यह प्रसन्नता की बात है कि मेरा छोटा भाई भी इतना बलवान है कि जिसके आगे इन्द्र की भी कोई गिनती नही है। चलो मैं स्वय तुम्हारी शक्ति देखना चाहता हू।'

तथापि दोनो भ्राता आयुधशाला आये, साथ मे वासुदेव व अन्य कई कुमार आदि भी थे। श्रीकृष्ण ने पूछा—'कहो बन्धु! शस्त्र से युद्ध करके परीक्षा दोगे या मल्ल युद्ध से?'

'यह तो आपकी इच्छा पर है। आप चाहें तो बाहु झुकाने से काम चल सकता है।' नेमि ने कहा।

'ठीक है। मैं अपनी भुजा लम्बी करता हूँ, तुम झुकाओ।'

कुमार अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण की भुजा को पकडकर निमेष-मात्र मे कमलनाल के समान झुका दी। इसके बाद श्रीकृष्ण ने कहा—'अब तुम अपनी बाह लम्बी करो, मैं झुकाता हूँ।' कुमार ने अपनी बाह लम्बी कर दी। श्रीकृष्ण अपना समस्त बल लगा कर झूल ही गये, परन्तु तनिक भी नही झुका सके, इस पर श्री कृष्ण ने प्रसन्न होकर अरिष्टनेमि को भुजपाश मे बाध लिया और कहने लगे—

'जिस प्रकार ज्येष्ठबन्धु मेरे बल से विश्वस्त होकर ससार को तृण के समान समझते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे अलौकिक बल से मैं भी पूर्ण आश्वस्त हुआ हूँ।'

इन घटनाओ से अरिष्टनेमि के बलवान होने की बात उभरती है।

माता-पिता श्री अरिष्टनेमि से विवाह करने का आग्रह करते तो कुमार मौन रहकर टाल देते। जब आग्रह बढा और माता ने कहा—'पुत्र हमें तुम्हारा विवाहोत्सव देखने की उत्कृष्ट अभिलाषा है। पूर्वकाल के तीर्थकर भी विवाहित जीवन बिताने और सतति होने के बाद प्रव्रजित हुये थे, यदि अपनी इच्छा से नही तो हमारी प्रसन्नता के लिये ही विवाह करो।'

कुमार ने शात स्वरो मे उत्तर दिया—'मातु श्री! आप तो मोह मे पडकर ऐसी इच्छा कर रही हैं, विवाह के परिणाम को नही देखती।' और कुमार ने माता को समय पर विवाह करने की बात कह संतुष्ट कर दिया।

श्रीकृष्ण भी अरिष्टनेमि का विवाह होते देखना चाहते थे अत उन्होने अपनी रानियो से नेमि को मनाने के लिये कहा और एक दिन रानियो ने नेमि कुमार को मौन देखकर उनके विवाह की स्वीकृति समझ ली।

हर्ष और उत्साह के साथ यादवगण बारात लेकर 'जूनागढ की ओर चले। महाराजा उग्रसेन अपनी पुत्री राजमति के भाग्य पर प्रसन्न हो रहे थे। उग्रसेन ने यादव नरेशो के स्वागत के लिये प्रबन्ध मे कोई कसर न रखी थी। सारा जूनागढ नई दुल्हन की तरह सजाया गया। बारात उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ रही थी। शहनाईयो के स्वरो मे जूनागढ विभोर हो उठा था। राजमति का रोम-रोम पुलकित हो रहा था।

बारात जिस रास्ते जा रही थी, उसी पर एक ओर एक बाडे मे सैंकडो पशु इकठ्ठे किये गये थे। वे चीत्कार कर रहे थे। नेमि ने सारथी से पूछा—'भद्र! इतने सारे पशु इस एक ही बाडे मे किसलिये इकठ्ठे किये गये हैं?'

सारथी ने उत्तर मे निवेदन किया—'आयुष्मान! आपके स्वागत हेतु।'

स्वागत हेतु ? कुमार ने प्रश्न के स्वर मे सारथी का वाक्य दोहराया ।

'हा कुमार बारात मे आये मांस प्रिय अतिथियो के लिये कल से ये काम आयेगे ।'

'ओह !' नेमिकुमार के मुह से अनायास निकल पडा । सारथी ने चौक कर कुमार की ओर जिज्ञासा भरी नजरो से देखा ।

'भद्र, रथ रोको !' कुमार ने कहा ।

सारथी ठिठक गया, उसने देखा कुमार के चेहरे पर हजारो भाव आ-जा रहे हैं । वे विचार-धारा मे डुबकियां लगाने लगे—'मनुष्य कितना क्रूर बन गया है । अपनी रसलोलुपता पूरी करने के लिये दूसरे असहाय जीवो के प्राण लेने को तत्पर हो जाता है । कितनी घोर हिंसा है ? कितनी क्रूरता ? मेरे लग्न पर हजारो पशु पक्षियो की हत्या ? धिक्कार है ऐसे लग्न को ! नही करना मुझे विवाह ।'

रथ रूका तो सारी बारात ही रूक गई । कुछ क्षण के लिये सबके कदम रूक गये । सबके मन मे सशय उठा लेकिन गति अपनी जगह चल रही थी ।

सारथी नेमिकुमार की ओर देखे जा रहा था । अधिक विलम्ब होते देख उसने अनुरोध भरे सदिग्ध भरे स्वर मे कहा—'कुमार ! रथ आगे बढाऊ ?'

कुमार की जैसे तन्द्रा टूटी । उन्होने सारथी की बात को दोहराया—'रथ आगे बढाऊ ? नही-नही अब रथ आगे नही बढेगा । यह अनुचित है । यह गलत है । यह अन्याय है ।' वे बोले ही जा रहे थे—'क्या विवेक जाता रहा ? क्या करूणा की सरिता सूख गई ? क्या दया का लेश नही रहा ? यह कैसा भ्रातृत्व ? कैसा विवाह ? कैसा बन्धन ? क्या अन्तर है इन

पशुओं के बन्धन मे और इस विवाह बन्धन मे ?'

'नही' 'नही नही !' कुमार ने जोर देकर कहा— सारथी यह विवाह नही होगा। रथ को वापस लौटाओ। पिता जी से कहो मैं ऐसे बन्धन मे नही बधूगा।'

सारथी एकदम घबरा गया। उसे कुछ नहीं सूझ रहा था।

अधिक विस्मय ने बारात मे हलचल पैदा कर दी। गुरूजन तथा वासुदेवादि दौडे-दौडे रथ के निकट आये तो देखते के देखते रह गये। नेमि आभूषण उतार-उतारकर रथ मे डाल रहे थे।

समुद्रविजय ने देखा तो वे आने वाले अमगल की सूचना से विचलित हो उठे। उन्होने कुछ घबराये से आक्रोश के स्वर मे कहा—'कुमार, यह क्या पागलपन है।

नेमि मानो एकदम मुखर हो उठे—

'तात ! यह पागलपन नही, सच्चाई है। मेरी आँखें खुल गई हैं, पागलपन तो अब मिटेगा। जीवन की वास्तविकता को मैंने अपनी आखो से देख लिया है। यह विवाह नही होगा। अब विवाह करूगा तो बस मुक्ति-वधू से।'

श्रीकृष्ण वासुदेव बोल पडे—'भाई ! तुम दयालु हो। तुमने पशुओ की दया की, उनके बन्धन मुक्ति के लिये तो ठीक किया परन्तु तुम अपने माता-पिता और आप्तजन के दुख दूर करके सुखी क्यो नही करते ? इनकी दया करना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है क्या ? क्या पशुओ से भी मनुष्य महत्वहीन हो गया ? हम सभी के दुख का कारण तो तुम स्वय बन रहे हो, यदि तुम लग्न करना स्वीकार कर लो, तो हम सभी का दुख मिटकर सुख प्राप्त हो सकता है।'

कुमार ने उत्तर दिया—'भ्रातृवर ! पशुओ को छुडाना मेरे लिये बन्धनकारी नही और न पशु अपने आप मुक्त हो सकते थे क्योंकि वे दूसरो के बन्धन मे बन्धे थे, किन्तु आप तो अपने ही

वन्धन मे बन्धे हैं। आप सबका मोह ही आप सबको दु खी कर रहा है। इस मोहजनित दु ख मे मुक्त होना तो आप सभी के हाथ मे है। मैं आपको दु खी नही कर रहा वरन आप सभी मुझे दु खदायक वन्धन मे बाध रहे हैं।'

'मैं तो आप सभी का हित ही चाहता हूँ। जिस प्रकार मैं स्वय मोहजनित वन्धन से बचना चाहता हूँ, इसी प्रकार आप सभी बचें और निर्मोही होकर शाश्वत सुखी बनें। मोह के वश होकर जीव ने स्वय दुख उत्पन्न किया है और मोह त्यागकर स्वय ही सुखी हो सकता है। आपसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे स्वतन्त्र रहने दीजिये। मन को मोड लेने से मोह का आवेग हट जायेगा और शान्ति हो जायेगी।'

पुत्र का दृढ विचार सुनकर माता-पिता व कृष्ण वासुदेवादि स्वजन भी शोकमग्न हो गये।

यथा समय लोकान्तिक देव अरिष्टनेमि के समक्ष उपस्थित हुये और प्रणाम कर बोले—'कुमार अब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके भव्य जीवो का उद्धार करो।'

राजा उग्रसेन ने सुना तो उन्हे काट मार गया। राजमति मर्माहत हो कटी हुई पुष्पलता के समान भूमि पर गिर पड़ी। उसके हृदय-मन्दिर मे जिन महात्वाकाक्षाओ के भव्य भवन बन गये थे, वे सब एक ही झटके मे नष्ट हो गये।

"रत्नकुरू" नाम की पालकी पर सवार हो अरिष्टनेमि दीक्षा हेतु चल पड़े। उनकी निष्क्रमण यात्रा भी उत्सव बन गई। निष्क्रमण यात्रा उज्जयत पर्वत की तलहटी के सहस्त्राम्र वन मे पहुची। कुमार अरिष्टनेमि शिविका से उतरकर अशोक वृक्ष के नीचे खडे हुये और अपने शरीर से आभूषण उतार दिये प्रभु ने वस्त्र भी उतार दिये और केशो का पचमुष्टि लोचन किया। सौधर्मेन्द्र ने भगवान के कन्धे पर देवदूष्य रखा।

भगवान के चरित्र ग्रहण करते ही उन्हे मन पर्यय ज्ञान हुआ, उनके साथ एक हजार पुरुषो ने प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

दूसरे दिन भगवान ने उद्यान से निकलकर गोष्ठ मे 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहा वेले के तप का परमान्न से पारणा किया।

चौवन दिन तपस्या करने के वाद उसी सहस्राम्र वन मे उन्हें केवल ज्ञान हो गया। वे समदर्शी हो गये। उनकी धर्म-सभाओ का आयोजन होने लगा।

बहुत वर्षो तक धर्मोपदेश देकर अन्त मे गिरिनार पर्वत पर आषाढ सुदी ८ को मोक्ष प्राप्त किया।

(तेइसवे तीर्थंकर)

भगवान पार्श्वनाथ

पूर्वभव—अन्यान्य तीर्थ करो की तरह भगवान पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की साधना के फलस्वरूप ही तीर्थंकर पद की प्राप्ति की थी। भगवान पार्श्व का साधनारम्भकाल दस भव पूर्व से बतलाया है जिसका विस्तृत परिचय 'चउपन्न महापुरिस चरियम्' 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' आदि मे द्रष्टव्य है। यहा पर उनका नामोल्लेख कर सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) मरुभूति और कमठ का भव।
(२) हाथी का भव
(३, सहस्रार देव का भव
(४) किरणवेग विद्याधर का भव
(५) अच्युत्य देव का भव
(६) वज्रनाभ का भव
(७) ग्रैवेयक देव का भव
(८) स्वर्णबाहु का भव
(९) प्राणत देव का भव
(१०, भगवान पार्श्वनाथ

वर्तमान परिचय—पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था। उनके पिता का नाम अश्वसेन तथा माता का नाम वामादेवी था।

एक समय महारानी वामादेवी स्वनिल अवस्था मे थी कि उन्होंने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नफल पूछने पर अश्वसेन महाराजा ने बताया कि 'तुम्हारे तीर्थकर पुत्र होगा।' सुनकर महारानी वामा अत्यन्त हर्षित हुई।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी वामा ने अतिशय साप के चिन्ह वाले पुत्र को जन्म दिया। वो दिन पोषवदी १० का था।

पार्श्व के जीवन की कई घटनाए रोचक एव प्रेरक हैं—
एक वार पार्श्वनाथ गगा नदी के तट पर घूमने गये। वहा एक साधु पचाग्नि तप कर रहा था। उसने अपने चारो ओर आग जला रखी थी और सूर्य की ओर देख रहा था। पार्श्व ने देखा कि अग्नि मे जल रहे एक लक्कड मे साप का जोडा है। उन्होंने साधु से यह बात कही। साधु को पार्श्व का यह कहना छोटे मु ह वडी बात लगी। उसने पार्श्व से कहा—'सैर करने आये हो, सैर करो और जाओ। तुम क्या समझो तपस्या की बातो को।'

पार्श्व वहा से नही हिले। उन्होंने एक बार और अधिक दृढता से कहा—'इसमे बच्चे और बूढे की क्या बात है। जिन्दा सापो को जलाने का नाम तपस्या कैसे हो सकता है?'

इस पर तपस्वी खीझ उठा। बोला—'कहा है साप?' उस ने कुल्हाडा उठाया और उस लक्कड को चीरने लगा।

लक्कड चीरते ही अधजला साप का जोडा निकल पडा। तपस्वी अपना सा मु ह लेकर रह गया।

पार्श्व सन्यस्त हुए। एक वार वे ध्यान मे लीन थे। कमठ ने आकर उनके ऊपर अनेक उपसर्ग किये। तरह-तरह के कष्ट किये। धरणेन्द्र को यह पता चला तो वह पद्मावती के साथ वहा

पहुचा । मर्पफण की छाया करके पाश्व के उपसर्गों का निवारण किया । वाद मे उसने मुनिराज पार्श्व को वताया कि यह कमठ वही तपस्वी था जिसे पार्श्व गगा किनारे तप करते हुये मिले थे । और धरणेन्द्र तथा पद्मावती वही नाग युगल थे जिनको पार्श्व ने अग्नि मे जलने मे रक्षा की थी ।

पार्श्वनाथ भगवान के ममय पर भी दृष्टि डालना अति आवश्यक है वस्तुत भगवान महावीर के लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व तीर्थ कर पार्श्वनाथ के ममय से ही भारत मे सामाजिक क्राति के वीज पनप रहे थे । तीर्थ कर पार्श्वनाथ ने जो चितन दिया, उस युग मे सम्पूर्ण विश्व के चितको की चितनधारा प्रकृति के अध्ययन और समस्याओ की ओर से मुडकर ममाज और जीवन की समस्याओ की ओर गई थी । अगर ध्यान से देखा जाये तो ज्ञात होगा कि धार्मिक से अधिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन को धार्मिक रूप देने की दृष्टि से उन्होंने सारी वातें कही थी ।

पार्श्वनाथ भगवान की चितनधारा का ही परिष्कार होकर ही महावीर और बुद्ध का रूप ले सका ।

पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया था—

१– अहिंसा

२– सत्य

३– अस्तेय

४– अपरिग्रह

इसी चातुर्याम धर्म का वर्णन जैन और बौद्ध साहित्य मे विस्तार रूप से हुआ है ।

यम का प्रयोग यहा दीर्घकालिक प्रतिज्ञा के अर्थ मे हुआ है । प्राचीन साहित्य मे यम और नियम दो पारिभाषिक शब्द

मिलते है। नियम थोडे समय के लिये स्वीकार किये गये नियम को प्रतिज्ञा भी कहते है। जीवन पर्यन्त के लिये स्वीकृत नियम या प्रतिज्ञा यम है। योग परम्परा मे योग के जो आठ अग बताये गये है उनमे भी यम प्रथम है।

पार्श्वनाथ ने चातुर्याम की जो परिभाषा दी उसका विवरण जैन आगम स्थानाग सूत्र मे इस प्रकार मिलता है—

१– सवातो पाणातिवायाओ वेरमण।

अर्थ– सभी प्रकार के प्राणघात से विरक्ति अर्थात (अहिंसा)

२– एव (सव्वातो) मुसावायाओ वेरमण।

अर्थ– सभी प्रकार के असत्य मे विरक्त अर्थात (सत्य)

३– सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमण।

सभी प्रकार के चोरी मे विरक्त अर्थात (अचौर्य)

४– सव्वातो बहिद्धाणाओ वेरमण।

सभी प्रकार के बहिधा– आदान (परिग्रह) से विरक्त अर्थात (अपरिग्रह)

पार्श्व भगवान के समय की इसी अहिंसा, सत्य, अचौर्य एव अपरिग्रह का परिष्कार रूप ही इस समय की सबसे बडी उपलब्धि मानी जाती है। परन्तु इतना होते हुये भी भगवान पार्श्व के कुछ सिद्धान्तो पर दृष्टिपात आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर अचौर्य के लिये अदत्तादान की परिभाषा क्यो बाँधी गई और दूसरी विचारणीय बात ये है कि भगवान पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्य का निर्देश अलग से क्यो नही किया ? इन दोनो प्रश्नो पर जैन साहित्य के सदर्भ मे विचार करने पर पर्याप्त जानकारी मिलती है।

अदत्त का सामान्य अर्थ है बिना दिये हुए। जैन आगमो मे भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे ही हुआ है। ऋषि सस्कृति मे प्रव्रजित लोग वन मे जाकर रहते थे वहा फल फूलो

के द्वारा आजीविका तथा वृक्षों के वल्कलों से वस्त्र की समस्या हल हो जाती थी। ऋषियों की आवश्यकताएं भी इतनी कम होती थी कि अहिंसा आदि के पालन में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती थी। भगवान पार्श्वनाथ चातुर्याम को सार्वजनिक एवं सामाजिक धर्म बनाना चाहते थे ताकि समाज में छायी हुई अव्यवस्था को जिससे हिंसा उत्पन्न होती है, कम हो सके इस लिये ही अहिंसा आदि की परिभाषा निश्चित की। जान बूझकर हिंसा न करना, बिना दिये किसी की वस्तु ग्रहण न करना इत्यादि मर्यादाओं का पालन आवश्यक माना गया वस्तुतः ये वस्तुएं ही सामाजिक सुधार के परिस्कृत रूप को जन्म दे सकती हैं।

पार्श्वनाथ भगवान के समय तक यज्ञों के साथ पशु-हिंसा तीव्र रूप में जुड़ चुकी थी। तथा अधिकांश यज्ञ पशु यज्ञ ही होते थे भले ही व्यक्ति उसे पवित्र यज्ञ का नाम दे परन्तु वे हैं तो हिंसा ही। जबकि यज्ञ मूलतः पशु यज्ञ नहीं थे प्रत्युत यज्ञ देव पूजा के लिये प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य शब्द था। बाद में कब और कैसे अग्नि में आहुति देने वाले यज्ञों के साथ यह शब्द जुड़ गया इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यज्ञों में पशु हिंसा कब से सम्बद्ध हुई यह वास्तव में एक महत्वपूर्ण विचारणीय विषय है।

जैन साहित्य में इस सम्बन्ध में एक बहुत ही रोचक कथा आती है जिसमें बताया गया है कि एक बार नारद और पर्वत में 'अजैर्यष्टव्यम्' इस सूत्र की व्याख्या के विषय में मतभेद हो गया। एक पक्ष का कहना था कि 'अजै' का अर्थ बिना प्रयत्न के उगा हुआ पुराना धान है। दूसरे पक्ष का कहना था कि अज का अर्थ बकरा है। अन्त में राजा वसु ने अपना निर्णय दूसरे

पक्ष मे दिया और तब से यज्ञ मे हिंसक आहुतिया दी जाने लगी उसके बाद तो हिंसक यज्ञो का इतना प्रचार हुआ कि अश्वमेघ, गोमेध और यहा तक कि नरमेघ भी होने लगे ।

भगवान पार्श्वनाथ के समय तक याज्ञिक हिंसा का इतना अधिक जोर हो चुका था कि राजे, महाराजे, तथा अन्य शक्तिशाली सामाजिक जब यज्ञो का आयोजन करते थे, तो उसके लिये गरीब जन-समान्य के लिये उपलब्ध सुन्दरतम पशुओ को यज्ञ के लिये जबरदस्ती छीन लिया जाता था, ऐसे समय मे आवश्यक था कि कोई युगद्रष्टा इन सबको समाप्त करने के लिये मर्यादाए निर्धारित करे और पार्श्वनाथ ने मर्यादा दी कि बिना दिये किसी की चीज नही लेनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्य की बात पर विश्लेषण करें तो ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भगवान पार्श्वनाथ के समय तक सामाजिक जीवन मे स्त्री एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप मे नही मानी जाती थी, वह परिग्रह का ही एक अग थी । साहित्य मे एक नही अनेको ऐसे उदाहरण भरे हुये है जहाँ स्त्री को परिग्रह के अन्तर्गत रखा गया हो । महाकवि कालिदास ने 'रघुवश' मे महाराजा दिलीप के लिये पत्नी-सहित होने के कारण 'सपरिग्रह' शब्द का प्रयोग किया है । 'कुमार सम्भव' मे कहा गया है कि महादेव अपनी प्रथम पत्नी सती के स्वर्गवास के बाद से पार्वती के साथ परिणय होने तक अपरिग्रही ही रहे ।

जैन आगम स्थानाग सूत्र मे भी अपरिग्रह की व्याख्या करते हुये लिखा है—

अब्रह्म का अर्थ है मैथुन अर्थात परिग्रह विशेष । परिग्रह मे मैथुन का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योकि अपरिगृहीत स्त्री का उपयोग नही किया जाता ।

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के उपदेशो का आज के सदर्भ मे अगर मूल्लाकन किया जाये तो कहना पडेगा कि उन सिद्धान्तो उन मर्यादाओ की आज उससे भी कही ज्यादा आवश्यकता है।

भगवान पार्श्वनाथ का निर्वाण श्रावण वदी ८ को हुआ था।

(चौबीसवें तीर्थंकर)

भगवान महावीर

पूर्वभव—आचार्य हेमचन्द्राचार्य सूरी कृत 'त्रिशष्टि श्लाका पुरुष चरित्र' मे पहले बाइसवा भव मानव के रूप मे उत्पन्न होने का उल्लेख कर देवानन्दा के गर्भ मे उत्पन्न होने और त्रिशला के गर्भ मे सहारण इन दोनो को भगवान महावीर का सताइसवा भव माना गया है। क्रमश सताइस भव इस प्रकार हैं—

१--नयसार ग्राम चितक।

२—सौधर्मदेव।

३—मरीचि।

४—ब्रह्म स्वर्ग का देव।

५—कौशिक ब्राह्मण (अनेक भव)।

६—देव।

७—पुष्यमित्र ब्राह्मण।

८—सौधर्म देव।

९—अग्निद्योत।

१०—द्वितीय कल्प का देव।

११—अग्निभूति ब्राह्मण।

१२—सनत्कुमार देव।

१३—भारद्वज।

१४—महेन्द्र कल्प का देव।

१५—स्थावर ब्राह्मण।

१६–ब्रह्म कल्प का देव।
१७–विश्वभूति।
१८–महाशुक्र का देव।
१९–त्रिपृष्ठि नारायण।
२०–सातवी नरक।
२१–सिंह।
२२–चतुर्थ नरक (अनेक भव)।
२३–पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती।
२४–महाशुक्र कल्प का देव।
२५–नन्दन।
३६–प्राणत देवलोक।
२७–देवनान्दा के गर्भ मे तथा त्रिशला की कुक्षि से भगवान महावीर।

भगवान महावीर चौबीसवे तीर्थ कर थे। वे इस युग के अन्तिम तीर्थ कर माने जाते हैं।

जन्म—महावीर का जन्म वैशाली मे हुआ था। इसलिये उन्हे साहित्य मे वैशालीय भी कहा गया है। वैशाली उस समय का अत्यन्त समृद्ध, सुअवस्थित और प्रतिष्ठित गणतन्त्र था। महाराजा चेटक इस गणतन्त्र के अत्यन्त प्रभावशाली अध्यक्ष थे। सम्पूर्ण भारतवर्ष मे वंशाली गणतन्त्र और महाराजा चेटक की साख थी।

महावीर की माता त्रिशला महाराजा चेटक की रूपसी पुत्रियो मे से एक थी।

महावीर का जन्म चैत्र सुदी १३ को वैशाली गणतन्त्र के अन्तंगत क्षत्रियकुण्ड के राजा सिद्धार्थ और उनकी पत्नी त्रिशला से हुआ था। माता-पिता ने इनका नाम वर्धमान रखा, क्योकि उनके जन्म की सम्भावना मात्र से वैशाली मे वैभव, जन-मन

मे शुद्ध भावनाये और पारस्परिक प्रेम सवर्धित होने लगे थे।

महावीर के तीर्थकरत्व के विषय मे कहा गया है कि उनके तीर्थकरत्व की प्राप्ति पिछले अनेक जन्मो की साधना का प्रतिफल था। महावीर के पूर्वभवो का वर्णन विस्तार के साथ जैन साहित्य मे उपलब्ध है। किन्ही ग्रन्थो मे २७ पूर्वभवो का वर्णन है किन्ही मे ३३ पूर्वभवो का।

महावीर के जन्म के पूर्व अनेक घटनाओ का जैन साहित्य मे विवरण प्राप्त होता है। सक्षेप मे कुछ घटनाये निम्न हैं—

तीर्थकर महावीर ऋषभदत्त ब्राह्मण की जलन्धर गोत्रीय पत्नी देवानन्दा के गर्भ मे आये। देवानन्दा ने मगल स्वप्न देखे। बाद मे इन्द्र ने देवानन्दा के गर्भ से महावीर के जीव को हरिणैगमेषी द्वारा अपहृत कराकर सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ मे स्थापित किया था। गर्भापहार के इस प्रसग का किसी-किसी ग्रन्थ मे विस्तृत वर्णन मिलता है।

देवानन्दा के गर्भ से क्षत्रियानी त्रिशला के गर्भ मे स्थानान्तरित होने के बाद त्रिशला ने भी मगल स्वप्न देखे।

महावीर के गर्भ के आने के समय से लेकर जन्म होने के बाद तक सिद्धार्थ के घर देव और मानवो द्वारा जो-जो मागलिक घटनाये हुई, उनका भी विस्तार के साथ जैन साहित्य मे वर्णन मिलता है। ये घटनायें आश्चर्यजनक भी लगती हैं और रोचक भी।

महावीर के बाल्यकाल की कई घटनाओ का जैन साहित्य मे वर्णन मिलता है। कुछेक घटनाये अत्यन्त ललित और प्रेरक हैं।

महावीर बाल्यकाल से अत्यन्त निर्भय थे। एक बार वह अपने समवयस्क साथियो के साथ उद्यान मे खेल रहे थे। उस समय उनकी अवस्था लगभग आठ वर्ष थी। सौधर्मेन्द्र की सभा

मे महावीर के पराक्रम और वीरता का प्रसंग छिड़ा। इन्द्र ने कहा—भारत क्षेत्र मे बालक महावीर बाल्यकाल मे ही इतने साहसी और पराक्रमी है कि देव, दानव और मानव कोई भी उन्हे पराजित नही कर सकता। संगम नामक देव को इस बात का भरोसा नही हुआ। वह महावीर की परीक्षा करने उस उद्यान मे पहुचा जहा महावीर खेल रहे थे।

उसने भयकर विषधर का रूप बनाया और घीर जिस वृक्ष पर चढने उतरने का खेल महावीर अपने साथियों के साथ खेल रहे थे, उसके तने मे चिपट गया। उपस्थित सभी बालक सर्प को देखकर भयभीत हो इधर-उधर भाग खडे हुये किन्तु महावीर डरे नही। उन्होने अपने साथियो को कहा—घबराओ नही। इसको उठाकर दूर फेंक देता हूँ। साथियो के मना करने के बावजूद महावीर ने उस सर्प को पकडकर दूर फेक दिया।

इस घटना के बाद भी संगम देव को सन्तोष नही हुआ तो वह समवयस्क बालक का रूप बनाकर उन्ही बालको के साथ खेलने लगा। अब वे तिन्दशक नामक खेल, खेल रहे थे। इस खेल में दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौडते है। दोनो मे से वृक्ष को जो पहले छू लेता है, वह विजयी माना जाता है। विजयी बालक पराजित पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।

एक बार महावीर और बालक वेशधारी संगम एक साथ दौड़े। महावीर ने वृक्ष को पहले छू लिया। नियमानुसार परा जित बालक को सवारी के लिये उपस्थित होना पडा, महावीर उस पर बैठकर जैसे ही नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने सात ताड के बराबर ऊंचा और भयावह शरीर बनाकर महावीर को डराना चाहा। इस दृश्य को देखकर सभी बालक भयभीत हो गये। किन्तु महावीर ने सोचा, अवश्य यह कोई मायावी

मुझसे वचना करना चाहता है। ऐसा सोचकर उन्होने उसकी पीठ पर अत्यन्त दृढ मुष्ठिप्रहार किया। जिसके आघात से सगम चीख उठा और गेंद की तरह फूला हुआ उसका शरीर दबकर छोटा हो गया।

एक बार महावीर अपने भवन मे बीच की मजिल मे मौजूद थे। उसी समय उनके समवयस्क मित्र उन्हे खोजते हुये आये। नीचे माता त्रिशला से पूछने पर उन्होंने बताया कि महावीर ऊपर है। सुनते ही बालक दौडकर ऊपर पहुंचे पर महावीर वहाँ नहीं मिले। उन्होने वहा उपस्थित पिता सिद्धार्थ से पूछा कि महावीर कहा है? सिद्धार्थ ने बताया—'नीचे हैं।' बालक बडे असमजस में पडे। माता त्रिशला कहती हैं महावीर ऊपर हैं, पिता सिद्धार्थ कहते हैं कि महावीर नीचे हैं। यह क्या स्थिति है? खोजते-खोजते महावीर बीच की मजिल पर मिले। महावीर ने बालको की बात सुनकर उनकी जिज्ञासा का समाधान किया कि माता त्रिशला का यह कहना कि महावीर ऊपर है, इस कारण सही है क्योकि मैं नीचे नही था। नीचे की उपेक्षा ऊपर था। इसी प्रकार पिताजी का यह कहना भी सत्य है कि मैं नीचे हूँ क्योंकि मैं ऊपर वाली मजिल मे नही था, जहा महाराज सिद्धार्थ उपस्थित थे।

इस कथा मे महावीर के चितन के बीज झलकते है। भगवान महावीर के अध्ययन काल की एक घटना बडी रोचक है— महावीर को अध्ययन के लिये आठ वर्ष की अवस्था मे कलाचार्य के पास भेजा गया। कहते हैं, जब यह सूचना इन्द्र को प्राप्त हुई, तो वह वृद्ध व्यक्ति का वेश बनाकर महावीर के समक्ष उपस्थित हुआ और कलाचार्य के सामने ही महावीर से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछने लगा। महावीर ने उनके प्रश्नो के जो उत्तर दिये उससे स्वय कलाचार्य भी आश्चर्यचकित होकर रह गया। तब

वृद्ध का वेश धारण किये हुये इन्द्र ने कलाचार्य को कहा कि यह बालक असाधारण प्रतिभा और ज्ञान का धनी है, इसे सामान्य ज्ञान देने की आवश्यकता नही है।

महावीर अपने परिवार के राजसी वातावरण मे दिनोदिन बडे हो रहे थे, अवस्था के बढने के साथ ही उनका बुद्धि वैभव और सोचने की शक्ति का भी विस्तार हो रहा था। परिवार की परिधि मे रहते हुये भी महावीर के मन मे अनेक प्रकार के प्रश्न आ-आकर टकराने लगे।

जब कभी महावीर भवन के बाहर पर्यटन आदि के लिये निकलते तो उन्हे अपने चारो ओर का सामाजिक वातावरण देखने को मिलता। सामाजिक विढम्ता के कारण उन्हे प्रत्यक्ष दिखाई देते। सारा सामाजिक जीवन एक धम की धुरी पर केन्द्रित हो गया था। अर्थ और राजनीति भी उसी धर्म के इर्द-गिर्द मडराती थी। इस कारण धर्माधिकारियो का प्रभुत्व सर्वत्र बढ गया था, वे अपने इस प्रभाव का बहुत अधिक दुरुपयोग भी करने लगे थे।

महावीर ने देखा कि धर्मान्धता इतनी अधिक बढ गई है कि समाज का आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। धर्म के नाम पर जो क्रियाकाड सम्पन्न हो रहा है उसमे जो वर्तमान की साधन सुविधाओ को अग्नि मे डाला जा रहा है वो एक साधा-रण-जन को उपलब्ध नही हो पाती।

महावीर का चिन्तन परिवार की परिधि मे रहते हुये भी दिनोदिन वटवृक्ष का रूप धारण करता जा रहा था। उन्होने देखा कि सामाजिक जीवन मे न केवल आर्थिक विषमता है, वरन् वर्गभेद भी इतना अधिक है कि मानव-मानव के मन मे एक दूसरे के प्रति ममता और सौहार्द के स्थान पर घृणा और ग्लानि कूट-कूटकर घर कर गई है। एक ओर सामान्य सुविधा-

विहीन वह जन सामान्य है जिसे दलित वर्ग का सम्बोधन दिया जाता है, और दूसरी ओर वह समाज है जो ऐश्वर्य और प्रभुता के मद मे समाज की इस वडी इकाई को अपने से अलग काट चुका है। इतना ही नही वल्कि इस वर्ग ने प्रभुता और ऐश्वर्य के लिये उसका शोपण और दुरुपयोग भी करना शुरू कर दिया है।

महावीर ने जव ये देखा कि समाज मे स्त्रियो का स्थान अत्यन्त नगण्य माना जाता है। अर्द्धांगिनी और सहधर्मिणी जैसे शब्दो का व्यवहार केवल उस समृद्ध और ऐश्वर्यशाली परिवार की स्त्रियो के लिये ही है। नारी सामान्य के प्रति मनुष्य के मन मे जो भावना है उससे तो वह भौतिक जीवन की अन्य सामग्रियो से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु नही है तो उनका मन रो पडा। वे पुरुप और स्त्री का भेद न कर वरावरी से प्रत्येक अधिकार का प्रयोग करते देखना चाहते थे।

महावीर ने देखा कि दास और दासियो के रूप मे मनुष्य स्त्री और वालको का क्रय-विक्रय ठीक उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार भोग और उपभोग की अन्य वस्तुओ का। यह सव देखकर महावीर को सोचने के लिये और अधिक व्यापक क्षेत्र मिला। उनका चितन दिनोदिन वढता ही गया। परिवार मे रहकर भी महावीर अधिकाश समय इन समस्याओ पर सोचने मे लगाने लगे।

महावीर की इस चितनशीलता और पारिवारिक जीवन तथा ऐश्वर्य और विलास के प्रति वढते हुये निरपेक्ष भाव को परिजन धीरे धीरे आक रहे थे। माता त्रिशला व पिता सिद्धार्थ उसके निराकरण के विपय मे भी सोचते कि महावीर का मन पारिवारिक जीवन मे रमे और वे कुशल राजनीतिज्ञ वनकर शासन की वागडोर अपने हाथ में लें। किन्तु महावीर का मन

इस ओर तनिक भी नही था । उनके सामने सामाजिक विषमता के प्रश्न आ आकर टकराते रहते और वे उनके समाधान खोजने के प्रयत्नो मे डूब जाते ।

धीरे-धीरे अब महावीर ने युवक रूप पा लिया था । माता-पिता तथा अन्य परिजनो के मन मे यह विचार आने लगे कि महावीर का विवाह कर दिया जाये और वे सुखमय पारिवारिक जीवन व्यतीत करे । सिद्धार्थ महाराजा के पास वैवाहिक सबधो के लिये प्रस्ताव आने लगे ।

अन्तत कलिग जनपद के शासक जितशत्रु की कन्या यशोदा के साथ महावीर के विवाह का निश्चय हुआ ।

महावीर के परिजन उन्हे बहुत ही स्नेह भाव से देखते थे । माता त्रिशला और सिद्धार्थ के अतिरिक्त उनके ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन उन्हे अत्यन्त स्नेह से देखते थे ।

माता-पिता के देहावसान के बाद महावीर ने जब नन्दिवर्धन के समक्ष प्रव्रज्या लेने की बात रखी तो वे अत्यन्त व्याकुल हो उठे । उन्होंने अपने पूरा प्रयत्न भर महावीर को परिवार की परिधि मे बाधे रखना चाहा किन्तु अब ससार की कोई भी मोह माया महावीर को बाध नही सकी और अन्तत उन्होने प्रव्रज्या लेने का निश्चय कर लिया ।

महावीर का जन्म जिस ऐश्वर्यपूर्ण परिवेश मे हुआ था और उन्हे अपने चारो ओर परिवार तथा वैशाली गणतन्त्र की जो समृद्धि देखने को मिली थी, उसमे से उनके मन मे विराग का अकुर उगा । अतिभोग से योग की ओर प्रवृति शीघ्र होती है । अतिसमृद्धि से त्याग की प्रवृति का जन्म होता है । गहरे राग मे विराग पनपता है । उनके मन मे जो विराग का अकुर फूटा उसके पीछे ये भी एक कारण था ।

परन्तु महावीर वैराग्य की ओर इसलिये अधिक झुके कि

उनके चारो ओर का सामाजिक वातावरण और युग आह्वान उन्हें बुला रहा था, उन्हे अनुभव हुआ कि जैसे सारा समाज 'त्राहि माम–त्राहि माम' की आवाज देकर बुला रहा है।

महावीर को लगा जैसे चारो दिशाओ से अनगिनत आवाजे उन्हे पुकार – पुकार कर कह रही है कि हमारी विषमताए, हमारी उपेक्षाए हमारी असमर्थताओ का दुरुपयोग, हमारे अभाव और दयनीय स्थिति को आकर देखो और हमे उसका समाधान दो।

महावीर ने पारिवारिक जीवन मे रहते हुये तीस वर्ष की अवस्था तक इन प्रश्नो के समाधान खोजने के प्रयत्न किये। किन्तु उन्हे लगा कि राजमहलो मे रहकर इनका समाधान नही हो सकता। जब तक वह राजभवन नही छोडेगे तब तक न जन सामान्य की आवाज उन तक पहुँच सकती है और न जनसामान्य तक उनकी आवाज। लोक मगल के लिये जन समान्य के बीच होना आवश्यक है। त्याग के समक्ष राज को झुकना पडा। नन्दिवर्धन ने दो वर्ष बाद इस महापुरुष को मुक्ति पथ पर बढने की छूट दे दी।

महावीर परिवार का त्याग कर रहे हैं यह समाचार बिजली की तरह सम्पूर्ण वैशाली तथा चेटक के प्रभाव क्षेत्र मे कानो कान पहुँच गया। चारो ओर जन कल्याण की आशा कर राहत की सास लेने की उम्मीदे फिर जाग उठी।

कुण्डपुर के निकट ही 'खण्डवन' नामक उद्यान मे मगसर सुदी १० को ज्ञातिबन्धुओ से विदाई लेकर ध्येय को प्राप्त करने के लिये चल पडे। सब आवरणो से मुक्त होकर। उस समय किसके मन मे महावीर को देखने का औत्सुक्य न जागा होगा ? निम्न वर्ग के लिये यही एक बडी बात थी कि एक राजकुमार अपना राजवैभव घर ससार त्यागकर मुक्ति वधू से ब्याह रचाने

चला है। राज्य परिवारो के लिये एक आश्चर्य का विषय था कि महावीर अपने इस समृद्ध और सुख सुविधा सम्पन्न जीवन को छोडकर क्यो जान बूझकर काटो की राह चलने का निश्चय कर रहे हैं।

महावीर चल पडे उस मुक्ति को अपना जिसका चिन्तन वो बाल रूप मे किया करते थे। उसी समय एक विचित्र घटना घटी। महावीर जब राजमार्ग से होते हुये खण्डवन की ओर जा रहे थे तभी जनसमुद्र को चीरता हुआ एक वृद्ध व्यक्ति महावीर की ओर अपनी शक्ति भर तीव्रगति से बढा। लोगो ने उसे रोकने का प्रयत्न किया किन्तु वह रुका नही और महावीर की ओर बढता गया। राजपुरुषो ने उसे रोकने का असफल प्रयास किया। महावीर ने देखा कि एक वृद्ध तीव्रगति से उनकी ओर बढ रहा है। उनसे कानो मे वे शब्द भी पडे, जो उसे आने से रोकना चाहते थे महावीर ने कहा—'रोको नही ! उसे आने दो।' सब स्तब्ध, आश्चर्यचकित, किन्तु सब मौन। महावीर, जिनके निकट वह व्यक्ति आ रहा, जब वही उसको आने देने के लिये कह रहे थे, तो उसे कौन रोकता ?

वह हरकेशी चाण्डाल था। महावीर के निकट पहुँचकर वह उनके चरणो में गिरना ही चाहता था कि महावीर ने उसे उठा कर गले से लगा लिया। उस युग के लिये यह एक विचित्र घटना थी। एक राजकुमार और फिर वह जो सन्यस्त होने जा रहा है, एक चाण्डाल जिसकी छाया का स्पर्श भी वर्जित माना जाता हो, उसे अपने गले से लगा ले।

महावीर का मिशन यहा से प्रारम्भ हो गया। खण्डवन मे पहुचकर उन्होने दीक्षा ले ली और साधु हो गये।

सन्यस्त होने के बाद महावीर लगभग साढे वारह वष तक तकान्त और कठोर जीवन जीने के तरह-तरह के प्रयोग करते

रहे। इस दीर्घअवधि मे महावीर ने अने क्षेत्रो मे पदयात्रा की। जैन साहित्य मे उनके इन बारह वर्षों के जीवन का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। सक्षेप मे कुछ प्रसगो को यहा उद्घृत करना श्रेष्ठ रहेगा।

वैराग्य-पथ की प्रथम वेला मे ही वे कमरी नामक ग्राम के बाहर कायोत्सर्ग करके अर्थात् शरीर के मोह एव मान को त्याग कर आत्म-अवस्थित होकर ध्यानस्थित हो गये। उसी समय एक ग्वाला अपने वैलो सहित वहा पहुँचा। महावीर से ग्वाला वोला—

'मैं गाव से गाय दुहकर अभी आता हूँ, ये वैल देखते रहना।' उत्तर की प्रतिक्षा किये बिना ही वह चला गया। महावीर तो ध्यान मे लीन थे, उन्हे ग्वाले की बात या वैलो की निगरानी से क्या काम।

थोडी देर बाद ग्वाला घर से लौटा तो उसने देखा कि वैल वहा नही हैं। उसे महावीर पर बहुत ही क्रोध आया। जब वह महावीर को वैलो के लिये कह कर गया था तो उसने ध्यान क्यो नही रखा ? भला-बुरा कहता हुआ वह वैलो की तलाश मे चला गया।

वैलो को खोजते-खोजते थक कर जब वह वापस महावीर के निकट आया तो यह देखकर कि वैल महावीर के पास ही वैठे थे, क्रोध से आगबबूला हो गया और चोर आदि न जाने क्या-क्या कहते हुये वैलो को बाधने वाली रस्सी से महावीर पर प्रहार करने लगा। तभी इन्द्र ने यह देखकर उस ग्वाले को बताया—'मूर्ख! तू यह नही जानता कि य तो वैशाली के राजकुमार महावीर है, जो अभी कुछ ही दिनो पूर्व सन्यासी बने हैं। इन्हे तुम्हारे वैलो से क्या प्रयोजन!'

ग्वाले को अपने आक्रोश पर स्वय पश्चाताप हुआ और वह

महावीर के चरणों मे क्षमायाचना करता हुआ वहा से चला गया।

तभी इन्द्र ने महावीर से कहा—'भगवन। आपकी तपस्वी जीवन की रक्षा के लिये साथ रहकर सहायता करने की आज्ञा दीजिये।' तब महावीर ने उत्तर दिया—'इन्द्र! मुझे अपने पुरुषार्थ से ही परमतत्व को पाना है, दूसरो की सहायता के भरोसे नही। मुझे कोई कैसे कष्ट दे सकता है। जबकि मेरे हृदय मे किसी को कष्ट देने की भावना ही नही है।' इन्द्र नमस्कार कर विदा हो गया।

एक बार महावीर वाचचाला नामक नगर की ओर जा रहे थे। वहा जाने के दो रास्ते थे। महावीर सीधे रास्ते मे जाना चाहते थे। लोगो ने बताया कि आगे चलकर उस रास्ते पर एक भयकर दृष्टि विष सर्प रहता है, जो पथिको को अपनी दृष्टि-विष से नष्ट कर देता है। उसके विष के कारण आस-पास के वृक्ष और लताए भी सूखकर ठूठ बन चुके है।

महावीर ने जब यह सारा प्रसग सुना तो लगा कि एक ओर चण्ड-कौशिक है, दूसरी ओर इसके कारण निरन्तर हो रही विनाश लीला। उन्होने निश्चय किया कि इसका निराकरण अवश्य होना चाहिये। वे सीधे उसी रास्ते गये।

चण्ड-कौशिक के निकट पहुंचते ही उसने महावीर पर भयकर आक्रमण किया। उनके पैर पर दश।घात किया। महावीर के पैर से दुग्ध-रुधिर की धारा बह निकली। चण्ड-कौशिक चकित होकर महावीर की ओर देखने लगा। महावीर ने करूणा से भीगे स्वर मे कहा—'चण्ड कौशिक, अनेक जन्मो के दुष्कर्मो के कारण तो तुम इस योनि मे जन्म ले रहे हो और अब जो यह विनाशलीला का ताडव नृत्य खेल रहे हो उसका परिणाम शायद तुम नही जानते।'

महावीर के करुणा से भरे इन शब्दो को सुनकर चण्ड-कौशिक का मन बदल गया मानो निद्रित अवस्था से उसे किसी ने जगा दिया हो। उसने अपने पिछले जीवन की ओर दृष्टिपात किया तो वह आत्मग्लानि से भर उठा। महावीर से मगलमय भविष्य को आशिष लेकर उसने उसी समय से हिंसा का वह व्यापार बन्द कर दिया।

बेड़ियो का शुभाशीष—चन्दना चम्पानरेश दधिवाहन की राजकुमारी थी। किन्ही कारणो से कौशाम्बी-नरेश शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया। दधिवाहन ने युद्ध रोकने और नरसहार बचाने के लिये शतानीक की ओर मित्रता का हाथ बढाया लेकिन उसने स्वीकार नही किया। अन्तत युद्ध हुआ। और चम्पा की पराजय हुई। कौशाम्बी नरेश के सैनिक चम्पा-नगरी को लूट धन-दौलत अपने साथ ले गये। एक सैनिक ने दधिवाहन की पुत्री चन्दना और पत्नी को पकड लिया। वह उन्हे कौशाम्बी ले जाना चाहता था, परन्तु दधिवाहन की पत्नी ने बीच मे ही समय मिलते ही आत्महत्या कर ली। किन्तु चन्दना का अबोध मन सैनिको की बातो मे आ गया। सैनिको ने उसे ले जाकर शहर मे नीलाम कर दिया। नगरी के सबसे समृद्ध सेठ धनावह ने उसे खरीदा।

परन्तु धनावह की पत्नी ने सौतिया डाह के कारण उसे अनेक यन्त्रणाए देनी प्रारम्भ कर दी यहा तक कि मौका पाकर उसने चन्दना के केश कटवा दिये और पावो मे बेडिया बाँधकर तहखाने मे बन्दी कर लिया।

सयोग की बात! महावीर इसी नगरी मे काफी समय से

आते किन्तु अपनी प्रतिज्ञा के अनुकूल* सब बातें न पाकर पुन वापस लौट जाते और साधना मे लीन हो जाते ।

आज जब चन्दना इस स्थिति मे बन्धनयुक्त पडी हुई थी तभी महावीर उस ओर निकले । चन्दना को सेठानी ने खाने के लिये जो तुच्छ भोजन दिया था उसे लिये वह बैठी थी कि महावीर वहा से निकले । चन्दना को लगी आज बेडिया कुछ ढीली पडती जा रही है, मन न जाने क्यो व्याकुल होता जा रहा है, उसकी आखो मे अश्रुधारा प्रवाहित हो चली, किन्तु मन को कठोर कर वह दहलीज तक आई और चेहरे पर मुस्कान लाते हुये उसने वही भोजन अहोभाग्य समझकर महावीर को ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित किया ।

लोग यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि महावीर चदना की ओर बढ गये और उन्होने उससे आहार स्वीकार कर लिया । लोगो क्या पता था कि महावीर की यह प्रतीज्ञा आज पूरी हो गई थी कि कोई राजकुमारी बन्धनयुक्त अवस्था मे आग्रहपूर्वक आहार के लिये आमन्त्रित करेगी तभी वो आहार ग्रहण करेंगे ।

चन्दना की वन्दना सफल हो गई । महावीर को आहार देकर चन्दना जन्म-जन्मान्तर के लिये कृत-कृत्य हो गई । लोगो की दृष्टि मे जो अब तक धनावह सेठ की क्रीत दासी थी अब उसके सच्चे स्वरूप को लोगो ने जाना कि वह चम्पानरेश दधिवाहन की राजकुमारी वसुमति चन्दना है ।

---

* साधु जीवन के बारहवे वर्ष मे महावीर ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं उस दिन आहार ग्रहण करूगा जिस दिन मुझे ऐसी राज-पुत्री भोजन देगी, जिसका सिर मुडा हो, पैरो मे बेडियाँ हो, दहलीज पर खडी हो, आखो मे आसू हो तथा हाथो मे उबले हुये उडद हो ।

चम्पा पर कौशाम्बी नरेश का आक्रमण, माता की सैनिक के कारण मृत्यु, खुले आम बाजार मे विक्रय धनावह सेठ के यहा क्रीतदासी का कार्य और धनावह की पत्नी द्वारा किया दुष्टापूर्ण व्यवहार—सब चन्दना की आखो के सामने चित्रपट की तरह एक के बाद एक उतरने लगे, और चन्दना का मन, अन्याय, अज्ञान और विशमता भरे जीवन से विराग की ओर बढने लगा।

चन्दना महावीर की शिष्या बन गई। वह महावीर के शिष्य समुदाय मे प्रमुख साध्वी हुई।

महावीर गाव-गाव पद यात्रा करते हुये एक बार अस्थिग्राम पहुंचे। वे प्राय एकान्त और निर्जन स्थानो मे ठहरते थे, जिससे उन्हे एकान्त चिन्तन और तपश्चर्या के विविध प्रयोग करने का अवसर मिलता रहे। वहा भी वे गाव के बाहर एक यक्षायतन मे ठहरे।

उस यक्षायतन के विषय मे गाव मे यह प्रसिद्ध था कि रात्रिकाल मे वहाँ यक्ष किसी को भी नही रहने देता। अगर कोई रहता है तो वह बचकर नही निकल पाता। इस बात को ध्यान मे रखते हुये ग्रामवासियो ने उनसे अनुरोध किया कि वे वहा रात्रि मे न ठहरे। परन्तु महावीर तो अपनी तपस्या के लिये ऐसे प्रसगो की तलाश मे ही रहते थे।

सध्याकालीन पूजा के उपरान्त जब पुजारी यक्षायतन से जाने लगा तथा अन्य भक्तजन वहा से चले गये तो पुजारी ने महावीर से भी अनुरोध किया कि वे भी वहा से ग्राम मे चले जायें। किन्तु महावीर नही गये।

रात्री आयी। जैसा कि ग्रामवासियो का विश्वास था, यक्ष उपस्थित हुआ। उसने दर्द भरे स्वर से महावीर को सम्बोधित किया—'तू कौन है जो मेरे इस आवास मे आकर टिका हुआ

है ? क्या तू मेरी शक्ति को नही जानता ?'

महावीर तो ध्यान मे लीन थे। उन्होने यक्ष की बात सुनी ही नही। यक्ष को इस वात पर और अधिक क्रोध आया। उसने महावीर को तरह तरह की पीडा देनी प्रारम्भ की। किन्तु महावीर उन्नत समेरु पर्वत की तरह अविचल ध्यान मे लीन थे और यह सोचकर कि इस अज्ञानी व्यक्ति को कुछ भी पता नही कि यह क्या कर रहा है, मन मे उस स्थिति मे भी उसके प्रति मगल कामना करते रहे।

यक्ष रात भर महावीर को दारुन पीडा देता रहा। रात वीती। यक्ष अपने सम्पूर्ण कठोरतम प्रयोग महावीर पर करके हार चुका था किन्तु उस स्थिति मे भी जव महावीर अविचिलित रहे, तो वह सहम गया। उसका मन महावीर की इस समता और अडिगता के सामने द्रवित और विचलित हो गया और उसे अपने आप पर पश्चाताप होने लगा। वह महावीर के चरणो मे गिरकर वोला—'आप सचमुच महान है, जो इतनी यातना देने पर भी अडिग रहे। मैं अपने किये के लिये पश्चाताप करता हूँ।'

भगवान महावीर साधु जीवन के तेरह वर्षों केवल ३४९ दिन ही अन्न-जल ग्रहण किया, शेप दिन निर्जल उपवासो के साथ व्यतीत किये। आश्चर्यचकित थी जनता कि इतने उपवासो के होने पर भी उनके शारीरिक सौंदर्य मे नाममात्र की भी विकृति नहीं आ पाई थी। मानो प्रकृति की सामस्त शक्तिया सूर्य-रश्मियो के माध्यम से उनके शरीर मे वह भोजनसार भरती रही जिनकी शारीरिक स्थिरता के लिये आवश्कता होती है।

चिन्तनशील महावीर—

सावना के प्रति महावीर जितने सचेप्ट थे उतने ही चिन्तन के प्रति भी। उन्हे लगता, जव तक व्यक्ति अपने आपको चारो

ओर से समेटकर शून्य की स्थिति मे नही ले आता तब तक उस के सर्वस्व का विसर्जन नही होता, और जब तक सर्वस्व विसर्जित नही होता तब तक उसके विश्व-वात्सल्य और विश्वमगल की कामना व्यापक नही हो सकती।

भगवान महावीर के विराट् जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे लोक-पुरुष थे। उनके धर्मचक्र का प्रवर्तन लोक-हित के लिये हुआ था, उनका विराट् चिन्तन आत्मधर्म से सम्बन्धित है। वह लोकधर्म ही है। भगवान महावीर के उपदेश को निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहा जाता है।

महावीर ने साधक जीवन के साढे बारह वर्षों मे दूसरो के द्वारा दिये गये उत्सर्ग और कष्ट समता-भाव से झेले। उससे भी अधिक उन्होने अपने आपको कठोर तप और परीषहो की अग्नि मे तपाया।

गर्मी की तपती हुई दोपहरियो मे खुले आकाश मे आग बरसाते सूर्य के नीचे तप्त पाषाण शिला पर महावीर तपस्या करने बैठ जाते और अविचल भाव से दीर्घकाल तक तपस्या मे लीन रहते।

वर्षा ऋतु मे जब मूसलाधार पानी बरस रहा होता, भयकर तूफान और बादलो की गडगडाहट का आतक व्यक्ति को घर से बाहर नही निकलने देता—ऐसे मे महावीर वृक्ष के नीचे तपस्या मे अडिग खडे होते।

वर्षाकाल मे जब चारो ओर हरे-हरे घास उग आते, ताल-तलैया भर जाती, मक्खी और मच्छरो की भरमार हो जाती, ऐसे मे महावीर अपनी अनावृत काया मे सयम की साधना करते हुये उन शून्यागारो मे तपस्या करते होते, जहा उन्हे इन क्षुद्र-कीट और जन्तुओ द्वारा शारीरिक पीडा पहुचाई जाती।

शीत ऋतु मे जब बर्फीली हवाये चलती होती, पक्षी तक

डरकर अपने घोसले मे छिप जाते, तब महावीर किसी अत्यन्त ठन्डे स्थान पर नदी के किनारे, ताल के तट पर या पर्वत की उपत्यका मे अपनी साधना मे तल्लीन होते।

महावीर ने उन समस्त प्रकार भयावह स्थानो मे जाकर तपस्या की, जहा आदमी भयभीत हो जाता है और जो आदमी को विचलित कर देते हैं। अनेको वार महावीर शमशान में ध्यानारूढ होते।

इस प्रकार महावीर की साधना निरन्तर उग्र से उग्रतर, कठोर से कठोरतम होती गयी। जैसे कोई खान से निकले हुए सोने को एक के वाद एक वार अग्नि मे तपाता चले और सोने का रूप निखरता आये, उसी तरह ज्यो-ज्यो महावीर की साधना बढ रही थी, उनका चिन्तन, उनका ज्ञान व्यापक हो रहा था। उन्हे समस्याओं के समाधान दृष्टिगत होने लगे थे।

जैसे कोई शिल्पी छेनी की एक-एक चोट से दिव्य पुरुष की मूर्ति घड रहा हो, वैसे ही महावीर क्षण-क्षण की साधना द्वारा उस ओर अग्रसर हो रहे थे, जहा आत्मा परमात्मा मे विलीन होकर एक हो जाती है। ऐसे थे महावीर, ऐसी थी उनकी चिन्तनधारा।

महावीर की साधना के साढे वारह वर्ष पूरे होने को आये। उनकी साधना चरम स्थिति तक पहुच चुकी थी। वे एक दिन जम्भिद नामक ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के तट पर, एक शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न थे। वैशाख शुक्ला दशमी का दिन था, दिन का चौथा पहर प्रारम्भ हो चुका था, उनकी साधना पूर्ण हो गई। अपने ही तप के प्रकाश मे उनका समर्थ शुद्ध-बुद्ध आत्मा, परमात्मा वनकर प्रकट हो गया। वे सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा हो गये। उनके लिये कुछ भी अज्ञेय न रहा वे केवल ज्ञान सम्पन्न तीर्थंकर वन गये। समस्त दैवी शक्तिया उनकी वाणी के समक्ष

नत मस्तक हो उठी । देवत्व मनुष्यता के चरणो मे झुक गया ।

महावीर के सामने से सारा आवरण हट गया है, और पिछले बयालीस वर्षों से वह जिस साधना मे लगे आ रहे थे, वह पूर्ण हो गई । उन्हे उन समस्त समस्याओ के समाधान स्फटिक मे झलकते हुये से दिखाई देने लगे, जो जीवन भर उन्हे मथती रही थी । सत्य का अनावरण हो चुका था । अब वस्तु तथ्य उनके सामने अपने वास्तविक स्वरूप मे थे ।

धर्म-देशना—महावीर अब अपनी बयालीस वर्ष की साधना और चिन्तन की उपलब्धियो को जन-कल्याण के लिये बिखेर देना चाहते थे । उन्होने इतने लम्बे समय मे साधना और चिन्तन के विभिन्न प्रयोगो के माध्यम से जीवन और जगत की समस्याओ के जो समाधान उपलब्ध किये थे उन्हे वह जनकल्याण के लिये व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचा देना चाहते थे ।

महावीर के उपदेशो के लिये विराट सभाओ का आयोजन किया जाने लगा । उनकी यह सभा समवशरण कहलाती थी । प्रत्येक व्यक्ति इस सभा में बिना किसी भेदभाव के बेरोक-टोक आ सकता था ।

महावीर की समवशरण सभा मे उनके प्रधान शिष्य इन्द्र-भूति गौतम बने । वे महावीर के प्रथम गणधर थे ।

इन्द्रभूति गौतम उस समय इन्द्र की विभूति वाला एक महान् विद्वान और शिष्य समुदाय का प्रमुख आचार्य था ।

इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदागो का पारगत विद्वान था । उसके पाँच सौ शिष्य थे । इन्द्र ने भी यह अनुभव किया कि महावीर के उपदेश को जन-सामान्य तक पहुँचाने के लिये इन्द्रभूति जैसा विद्वान व्याख्याकार समवशरण मे उपस्थित होगा तभी सरलता-पूर्वक महावीर के सन्देशो को जन-जन तक पहुँचाया जा सकता है ।

इन्द्रभूति को महावीर के पास कैसे लाया जाय, यह समस्या थी। इन्द्र ने बटुक का वेश बनाया और इन्द्रभूति के आश्रम मे पहुँचा और उनके पास अध्ययन करने की इच्छा व्यक्त की। तब उसने एक पद्य इन्द्रभूति के समक्ष कहा, और कहा कि यह गाथा मुझे मेरे गुरू ने पढाई है, मुझे इसका अर्थ भूल गया है, कृपया आप मुझे इसका अर्थ बताये। पद्य इस प्रकार है—

'पचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महन्वया पच।
अट्ठ य पवयणमादा सहेडयो बघमोक्खो य॥

इन्द्रभूति यह सुनकर आश्चर्य और दुविधा मे पड गया। उसे इसका अर्थ समझ मे नहीं आया। किन्तु वह शिष्यो के समक्ष इस बात को स्वीकार नही करना चाहता था कि उसे इस पद्य का अर्थ नही आता। इसलिये उसने छद्मवेशधारी उस शिष्य से कहा कि चलो, तुम्हारे गुरू को ही इसका अर्थ बतायेंगे।

इस प्रकार इन्द्र गौतम को महावीर के समवशरण मे आया। समवशरण मे पहुंचते ही गौतम के तम के ताले टूट गये, उसका मोह भग हुआ। गौतम प्रभावित हो अपने शिष्यो सहित महावीर का शिष्य वन गया।

भगवान महावीर के उपदेश सरल भाषा मे जनहित के लिये होते थे। उन्होंने देशाटन कर जगह-जगह जन-जन को उनकी अपनी भाषा मे धर्म-उपदेश दिये। दलित लोगो का उत्थान करने के लिये, उनमे शक्ति उत्पन्न करने के लिये भगवान महावीर ने घोषणा की कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वरस्वरूप है, उसकी शक्ति अपार है, मनुष्य अपने आत्मिक गुणो का विकास कर भगवान वन सकता है। गुणो का सम्पूर्ण विकास कर वह कर्म बन्धन से मुक्त होकर, मोक्ष को प्राप्त कर, आत्मा से परमात्मा बना सकता है। और फिर वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता

है। इस कारण मानव के गुणो का विकास करने के लिये भगवान महावीर ने 'कर्म-सिद्धात' पर बल दिया। उन्होने कहा कि प्रत्येक मनुष्य अपने भले-बुरे कर्मों के अनुसार फल पाता है इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अपना रहन-सहन एव अपने विचार शुद्ध रखने चाहिये।

महावीर के युग मे वर्ण-व्यवस्था का जोर था। छुआछूत और ऊ च-नीच भाव का प्राबल्य था। महावीर ने कहा—यह कैसी समाज रचना है कि जिसमे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा करता है। एक दूसरे के निकट नहीं आ सकता। उन्होने कहा कि अगर किसी शूद्र मे इतनी बुद्धि है कि वह शासन तन्त्र सम्भाल सके तो उसे यह अवसर अवश्य मिलना चाहिये। उन्होने कहा कि सब लोग एक हैं, न कोई छोटा है और न कोई बडा। न कोई ऊ च है और न कोई नीच। किसी जाति या कुल विशेष मे जन्म लेने से कोई मनुष्य उस जाति अथवा कुल मे दीर्घकाल तक होने वाले कर्म को करने का अधिकारी है।

भगवान महावीर के समय मे धर्म मे जो अधविश्वास था, उसको दूर करने के लिये उन्होने खोकले क्रियाकाड एव यज्ञो का विरोध किया।

'महावीर पंचतत्र'

भगवान महावीर ने प्रमुख रूप से निम्न पाच सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया—

१—अहिंसा
२—अनेकात
३—अपरिग्रह
४—सयम
५—तप

अन्य प्रकार से कहा जाय तो पांच व्रत, अहिंसा, सत्य,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह। दोनो का भाव एव सेतु एक ही है। ये पाचो सिद्धान्त अथवा पाचो व्रत अर्थात् महावीर का आचार-धर्म जो सम्यक्चारित्र्य कहलाता है। वर्तमान जैन धर्म मुख्य इसी चारित्र्य धर्म का ही रूप है। सम्यक् चारित्र्य के साथ सम्यक दर्शन एव सम्यक ज्ञान, यह रत्नत्रयी मोक्षमार्ग है। सम्यक चारित्र्य को एक ही शब्द मे कहना हो तो सयम धर्म, सब प्रकार का सयम। अहिंसा अर्थात् हिंसा का सयम, अनेकात अर्थात् विचार एव वाणी का सयम, अपरिग्रह अर्थात् परिग्रह का सयम, तप अथवा ब्रह्मचर्य अर्थात् भोगोपभोग का सयम। विचार, वाणी एव वतन सभी मे सयम। अन्य प्रकार से कहा जाय तो विवेक जिसे जैन परिभाषा मे यतना कहते है। इन सभी का सार यह है कि मनुष्य का जीवन प्रमादरहित हो, विचारमय एव जागृत। अप्रमत्त भाव हो तो मनुष्य सार असार का विवेक करता है। एक विवेक गुण मे सभी सद्गुण समा जाते हैं।

ऐसे सम्यक्चारित्र्य की नीव अथवा आधार, दो प्रकार के हैं। ज्ञान दर्शन एव अनुभव। भगवान महावीर ने एक पूर्ण जीवन-दर्शन की रूप रखा जन-मानस तक पहुचायी।

प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव, सुख एव शाति की इच्छा करता है। मनुष्य विचार-वान प्राणी है। उसे स्मृति है जिससे वह भूतकाल का विचार करता है, बुद्धि है जिससे वर्तमान का विचार करता है। कल्पना है, जिससे भविष्य का विचार कर सकता है। महावीर ने मूल-मत्र दिया—'मनुष्य स्वय ही स्वय के सुख-दु खो का कर्ता है, उनका भोक्ता है, उनका विकर्ता है। मनुष्य स्वय ही स्वय का मित्र है, स्वय का शत्रु भी। यह कर्म का सिद्धान्त है, पुरुषार्थ क सिद्धात भी।'

महावीर ने पचतत्र मे मे प्रथम **'अहिंसा'** को परम धर्म कहा है। हिंसा को सभी पापो एव दु खो का मूल माना है।

अहिंसा मे से अन्य सभी सिद्धात अथवा व्रत अपने आप फलित होते हैं। मात्र बाह्य वर्तमान मे ही नही किन्तु विचार एव वाणी मे भी अहिंसा। विचार मे हिंसा भरी हो तो वाणी मे आती है एव वाणी मे हिंसा हो तो वर्तन मे आती है। हिंसा का मूल मनुष्य का मन है। महावीर की अहिंसा मे प्राणिमात्र तक आ जाते हैं।

भगवान महावीर ने अहिंसा के पालन के लिये कहा—

A—ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी भी जीव की हिंसा न की जाये।

B—तू जिसे मारने की इच्छा करता है वह दूसरा कोई नही किन्तु तेरे जैसा ही चेतनाशील प्राणी है, इस प्रकार सचमुच वह तू स्वय ही है।

C—सभी प्राणियो को स्वय का जीवन प्रिय है, सभी को सुख प्रिय लगता है, किसी को दुख अच्छा नही लगता। वध करना सभी को अप्रिय है। सभी जीने की इच्छा करते हैं।

D—ससार मे सभी प्राणियो के प्रति, फिर वे चाहे शत्रु हो या मित्र, समभाव से वर्तन करना इसी का नाम अहिंसा है।

E—समस्त जीवो के प्रति सयम पूर्वक वर्तन करना उससे निपुण-तेजस्वी अहिंसा है। सभी धर्मस्थानो मे भगवान ने ऐसी अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है।

अहिंसा का दूसरा स्वरूप अनेकान्त है। अनेकान्त अर्थात वैचारिक अहिंसा। मैं कहता हूँ वही सत्य है ऐसे मताग्रह अथवा दुराग्रह मे हिंसा है। दूसरे के कथन मे भी सत्य का अश है ऐसी उदार-दृष्टि अर्थात अनेकान्त। छाछ मे से मक्खन निकालना हो

तो उसे मथना जरुरी होता है। इसी प्रकार सत्य के शोधन के लिये विचारो को मथना अनेकान्त है। अनेकान्त मे सहिष्णुता है, सहअस्तित्व की भावना है, समताभाव है, समन्वय दृष्टि है।

परिग्रह का पाप का मूल है। अर्थात वस्तु का मोह। परिग्रह अर्थात वस्तु मे मूर्च्छा अथवा आसक्ति। समृद्धि होते हुये भी आसक्ति न हो तो अपरिग्रह है, दरिद्रता होते हुये परिग्रह लालसा हो तो परिग्रह है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि परिग्रह बढाना एव मूर्च्छा अथवा आसक्ति नही, ऐसा दावा करना।

महावीर जी ने परिग्रह के विषय मे कहा कि—

A—वस्तु के प्रति ममत्व रखना यही परिग्रह है।

B—प्रमत्त मनुष्य धन मे न इस लोक मे अपनी रक्षा कर सकता है न परलोक मे।

C—विश्व मे समस्त प्राणियो के लिये परिग्रह जैसा कोई बन्धन नही, कोई जाल नही।

D—जिस प्रकार भ्रमर पुष्प मे से रस ग्रहण कर लेता है किन्तु पुष्प का नाश नही करता इसी प्रकार श्रेयार्थी मनुष्य अपनी व्यावहारिक प्रवृति मे दूसरो को कम से कम क्लेश या पीडा पहुँचाता है।

सयम का अर्थ है, मौनसा, वाचा, कर्मणा सभी मे सयम का पालन अर्थात् विवेक, सुख का मार्ग। भोगोपभोग अन्तत दु.ख परिणामी है। नदी के प्रवाह को बहने के लिये उसके लिये तट आवश्यक है, इसी प्रकार जीवन-प्रवाह के लिये सयम आवश्यक है। बाहर मे लादे गये बध निरुपयोगी एव हानिकारक सिद्ध होते हैं। स्वेच्छा से स्वीकारा गया सयम स्वस्थता एव प्रसन्नता प्रदान करता है। महावीर ने कहा है—

हे पुरुष ! तू स्वय ही स्वय का निग्रह कर, स्वय-निग्रह से तू समस्त दु खो से मुक्ति प्राप्त करेगा।

आत्मा दुर्दम्य है, इसलिये उसका दमनकर। इसका दमन करने वाला इस लोक एव परलोक मे सुखी होता है।

दुराचार मे प्रवृत आत्मा, जितना स्वय का अनिष्ट करती उतना गला काटने वाला दुश्मन भी नही करता।

वासनाए, तृष्णाए, भारी शल्य रूप है, विष जैसी है, भयकर सर्प जैसी है। यदि वासनाओ के वशीभूत होकर काम भोगो की इच्छा करता है, तो अन्त मे दुर्दशा को प्राप्त होता है।

तप सयम का दूसरा रूप है। सयम का साधन है। तप का अग्नि कर्म निर्जरा का साधन है। वाह्य तप, मात्र देहकष्ट के बजाय अभ्यान्तर तप पर महावीर ने अधिक वल दिया। तप अर्न्तशुद्धि के लिये है।

महावीर ने कहा—'ऐसा चारित्र्य धर्म अहिंसा, सयम, एव तप वाला जीवन मे उत्कृष्ट मगल है जिसका मन सदा धर्ममय है उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।

भगवान महावीर का प्रथम उपदेश राजगृह की विपुलाचल पर आयोजित समवशरण सभा मे हुआ। तदन्तर भगवान महावीर राजगृह के बाद बिहार करते हुये अनेक स्थानो पर पहुँचे।

राजगृह से महावीर वैशाली पधारे। वहा से वे ब्राह्मणकु ड क्षत्रियकुंड गये। ब्राह्मणकु ड मे ऋषभदत्त और देवानन्दा तथा क्षत्रियकुंड मे जामाली और प्रियदर्शना ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

वैशाली के उपरान्त भगवान महावीर वत्स जनपद की राजधानी कौशाम्बी पहुचे। वहा उस समय शतानिक का अल्प-वयस्क पुत्र उदयन राज कर रहा था। शतानिक की वहिन जयन्ती बहुत विदुपी थी। उसने भगवान महावीर के समक्ष अपनी अनेक प्रकार की तात्त्विक जिज्ञासाए रखी जिनका महावीर ने सन्तोप-जनक समाधान दिया।

कौशाम्बी से चलकर महावीर श्रावस्ती पहुचे। वहाँ श्रमण-भद्र तथा सुप्रतिष्ठ ने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

श्रावस्ती से चलकर महावीर वाणिय ग्राम आये। वहा गाथापति आनन्द ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

वाणिय ग्राम से महावीर पुन राजगृह पहुँचे वहा वन्ना सेठ तथा शालिभद्र ने दीक्षा ग्रहण की।

राजगृह से महावीर चम्पा पहुँचे। वहा के अधिपति दत्त ने महावीर का भव्य स्वागत किया तथा महाचन्द्र राजकुमार ने श्रावक धर्म अगीकार किया।

इस प्रकार भगवान महावीर भारत के विभिन्न नगरो और ग्रामो मे बिहार करते हुये उपदेश देते रहे। उनके उपदेश जन-भाषा मे होते थे। महावीर के उपदेशो का प्रभाव प्रत्येक वर्ग पर पड़ा।

भगवान महावीर के उपदेशो से प्रभावित होकर अनेक राजे-महाराजे तथा उनकी पत्निया, सार्थवाह और श्रेष्ठी तथा अन्य सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष उनके शिष्य बने।

इस सम्पूर्ण शिष्य समुदाय के लिये भगवान महावीर ने जो व्यवस्था दी उसे चतुर्विध सघ की व्यवस्था कहा गया है। यह चतुर्विध सघ व्यवस्था इस प्रकार है—

१—साधु २—साध्वी ३—श्रावक ४—श्राविका

मूलत इस व्यवस्था को दो भागो मे वर्गीकृत किया जा सकता है—अर्थात् सन्यस्त व्यक्ति और गृहस्थ। सन्यस्त व्यक्तियो के लिये साधु और साध्वियो के अलग-अलग सघ बनाये गये। इसी प्रकार श्रावक और श्राविकाओ के लिये अलग-अलग सघ की व्यवस्था दी गई।

जो व्यक्ति पारिवारिक जीवन छोडकर सन्यस्त नही हो सकता था। वह श्रावक धर्म अगीकार करता था। जो सन्यस्त हो सकता था वह साधु या मुनि का धर्म अगीकार करता था। दोनो ही प्रकार की अवस्था के लिये अलग-अलग आचार सहिता दी।

महावीर के उपदेश जीवन की समस्याओ को सीधे स्पर्श करते थे। उनके समाधान भी प्रस्तुत करते थे, इसलिये वो जन-सामान्य के लिये उपयोगी थे। यही कारण था कि महावीर के उपदेशो का व्यापक प्रसार हुआ और सामाजिक जीवन मे एक नई चेतना जागी।

भगवान महावीर ने राजाध्यक्षो के लिये भी आचार-सहिता प्रस्तुत की। राजाध्यक्षो के लिये जन-कल्याण के काय आवश्यक व्यवस्था के अन्तर्गत कहे।

इस प्रकार लगातार तीस वर्ष तक भगवान महावीर नगर-नगर और ग्राम-ग्राम विहार करते हुए समवशरण सभाओ मे जनकल्याण के लिये उपदेश देते रहे।

भगवान महावीर विहार करते हुये पावानगर मे पहुँचे। यही कार्तिक अमावस्या के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उनका निर्वाण हुआ।

महावीर का जिस समय निर्वाण हुआ उस समय पावा में नौ लिच्छवी, नौ मल्ल, तथा काशी-कोशल आदि के अठारह राजे-महाराजे वहा उपस्थित थे। महावीर के निर्वाण से एक ओर सभी को दुःख हुआ, दूसरी ओर उनके बाद उनकी परम्परा को तथा उपदेशो को सुरक्षित रखने की चिंता भी। जैन मान्यता के अनुसार दीपावली भगवान महावीर के निर्वाण की स्मृति में ही मनाई जाती है।

"एक चिन्तन"

भगवान महावीर अन्तिम तीर्थ कर थे। इस समय तीर्थ करो का जो चिन्तन उपलब्ध होता है, वह महावीर की परम्परा के रूप मे है।

वस्तुत महावीर की वैचारिक क्राति चिन्तन का आधार है।

क्रान्ति का सूत्रपात विचारो से होता है, और विचार ही आचार और व्यवहार मे परिवर्तन लाते हैं। विश्व इतिहास इस वात का गवाह है कि दुनिया मे जब भी कुछ परिवर्तन हुआ तो उसमे पीछे चिन्तन और विचार की भूमिका अवश्य रही। समय समय पर ससार मे अनेक महापुरुष हुये। जिन्होने अपने अनुभव, चिन्तन एव मनन से मानव जाति का मार्ग दर्शन किया। २५०० वर्ष पहले का युग ससार मे वैचारिक क्रान्ति का युग था।

भगवान महावीर जिस युग मे हुये उस समय की स्थिति मे उन्होने महान् क्रातिकारी चिन्तन लोगो के सामने रखा। सच-मुच महावीर क्रान्तिद्रष्टा थे। क्रान्ति का प्रथम चरण स्वय जीवन से शुरू होता है। वैभव, विलास और भोगो को छोडकर त्याग एव सयम की ओर उनका सहज झुकाव मानव जीवन के लक्ष्य के प्रति एक क्राति थी चिन्तन के आरम्भकाल से ही व्यक्ति के मन मे दृश्य और अदृश्य जगत का प्रश्न आ-आकर टकराने लगता है इस वारे मे भगवान महावीर ने कहा कि दृश्य

और अदृश्य जगत स्वय में निर्मित है। इसे बनाने वाला कोई नही। उन्होने ससार की रचना के सम्बन्ध मे छ मूलभूत द्रव्यो का निर्देश किया।

ये इस प्रकार हैं—

१—जीव।

२—अजीव।

३—धर्म।

४—अधर्म।

५—आकाश।

६—काल।

इनमे जीव के अतिरिक्त शेष पाच द्रव्य अजीव या अचेतन है। इस प्रकार सक्षेप मे हम मूल मे दो द्रव्य मान सकते है।

भगवान महावीर ने जीव के विषय मे कहा कि जीव दो प्रकार के हैं—

एक तो वे जो ससार में स्थित हैं। दूसरे वे जो ससार से मुक्त हो चुके हैं। सूक्ष्मतम जीवो से लेकर दृश्यमान विशालकाय जीवो तक सभी ससारी जीव हैं। ससारी स्थिति मे अजीव या पुद्गल के साथ सम्बद्ध होने के कारण जीव के वास्तविक स्वरूप का बोध नही हो पाता। वस्तुत जड और चेतन सर्वथा दो भिन्न द्रव्य हैं। परस्पर बद्ध होने के बावजूद वे एक दूसरे के रूप मे परिणत नही होते। चेतन कभी भी अचेतन नही हो सकता। अचेतन कभी भी चेतन नही हो सकता। वस्तु का जो स्वरूप है उसे वह कभी नही छोडती।

तब यह जीव-अजीव के बन्धन की स्थिति क्यो है? इस सम्बन्ध मे भगवान महावीर ने सात तत्वो का उपदेश दिया। वे सात तत्व इस प्रकार हैं—

१–जीव। २–अजीव। ३–आश्रय। ४–बंध। ५–संवर।
६–निर्जरा। ७–मोक्ष।

उपरोक्त सात तत्वो के विस्तृत विवेचन के साथ भगवान महावीर ने सिद्धान्त का भी विवेचन किया।

जीव अनादि काल से कर्मों से सम्बद्ध चला आ रहा है। जिस प्रकार खदान से निकले स्वर्ण-पाषाण मे स्वर्ण और पाषाण के कण अनादिकाल से मिले हुये हैं उसी प्रकार जीव के साथ कर्म के जड अनादिकाल से सम्बद्ध है। जिस प्रकार स्वर्ण-पाषाण को अग्नि मे गलाकर पाषाण और स्वर्ण के कण अलग-अलग किये जाते हैं, उसी प्रकार जीव से कर्म के जड पुद्गल भी अलग किये जा सकते हैं।

कर्मों से बद्ध जीव मे मन-वचन-काय की प्रवृत्ति द्वारा जो परिस्पन्दन अर्थात् कम्पन होता है उससे नये-नये कर्मो का आस्त्रव और बन्ध होता है। नये कर्मों के आने को आस्त्रव और वद्ध होने की स्थिति को बन्धतत्व कहा गया है।

नये कर्मों के बँधने की स्थिति का रूकना सवर तथा बँधे हुये कर्मों का धीरे-धीरे अलग होना निर्जरा नामक तत्व है। जब समस्त कर्म पुद्गल जीव से अलग हो जाते हैं तो वह मुक्त हो जाता है—यही मोक्ष तत्व है।

व्यक्ति अपना विकास कर किस प्रकार परमात्मा वन सकता है इसकी एक पूरी प्रक्रिया भगवान महावीर ने प्रतिपादित की है। सूत्र-रूप मे कहा गया है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र्य मोक्ष के कारण हैं।

सम्यक् दर्शन—लोक रचना के लिये जिन छह द्रव्यो की चर्चा ऊपर की गई है तथा जीव आदि जो सात तत्व वताये गये हैं उनके स्वरूप के प्रति सच्ची श्रद्धा सम्यक् दर्शन है।

सम्यक् ज्ञान—उपर्युक्त छह द्रव्यो और सात तत्वो का सच्चा ज्ञान सम्यक् ज्ञान है।

सम्यक् चरित्र्य—द्रव्यो और तत्वों के वास्तविक स्वरूप के प्रति श्रद्धा और ज्ञान होने के उपरान्त जीव के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिये किया गया आचरण सम्यक् चरित्र्य है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र्य को रत्नत्रय कहा गया है।

ये तीनो मिलकर मुक्ति का मार्ग बनता है। एक की भी कमी रहने पर मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नही है।

भगवान महावीर ने कहा है—

"प्रत्येक जीव जो मनुष्य के सिवाय अन्य योनि मे भी है, वे भी अपना क्रमश आत्मिक विकास कर एक दिन परमात्मास्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र्य रूप रत्नत्रय को जो जीव जितने जल्दी प्राप्त कर लेता है वह उतने ही शीघ्र परमात्मास्वरूप को प्राप्त करता है।

अहिंसा सूर्य गोरव आगार ।
ज्ञान के श्री जिनचन्द्र सूरो
लिया जन्म आपने करने को
प्राणी उद्धार ॥

卐

शिखर चन्द कोठारी

5—वृज दुलाल स्ट्रीट
कलकत्ता—7

प्रातः स्मरणीय

श्री जिन चन्द्र सूरी जी

कोटि कोटि नमन

श्री पदम चंद दूगड़

१३ विंदु पालित लेन

कलकत्ता—७००००१

करो दया हे आचार्य सूरीश्वर
जग को दे दो सुख विश्राम।
चरण-शरण मे आया मै भी,
स्वीकार करो शत् शत् प्रणाम ।।

श्री जिन चन्द्र सूरी जी को
कोटि कोटि अभिनन्दन

बी० दूगड़ एन्ड सन्स
१२, इन्डिया एक्सचेन्ज प्लेस
कलकत्ता—७००००१

अहिसा के तपपूत
शान्ति के महादूत

श्री जिनचन्द्र सूरी जी महाराज

आध्यात्म कोष के महा कुबेर
ज्ञान भाव संचित भंडार।
शत शत नमन आप स्वीकारें
करो हमारा भी उद्धार॥

आचार्य श्री जिन चन्द्र सूरी जी, महाराज

दीप चन्द प्रकाश चन्द

४-मीर बोहर घाट स्ट्रीट
कलकत्ता-7
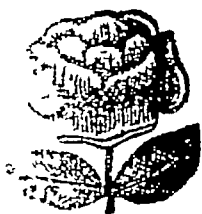
हे श्री आचार्य मेरी श्रद्धा के,
दो पुष्प आज स्वीकार करो।
दुखी दीन जन के करुणामय
जीवन का उद्धार करो।।

विनय विवेक ' अहिंसा के
अन्य तम ' क्षमा भाव के महा प्रभू
काटो क्लेश जीवन के

श्री जिनचन्द्र सूरी जी महाराज

पावन भक्ति मय चरित्र आपका
सुधा सरोवर आपका दर्शन ।
निमिष मात्र मे हो जाता है
पाप धर्म मे परिवर्तन ।।

श्री के० सी० दूगड़
जूट एण्ड गन्नी प्राइवेट लिमिटेड
१२—इन्डिया एक्सचेन्ज प्लेस
कलकत्ता—७०००१

अज्ञान, राग द्वेष जिनको देखकर
स्वयं ही मिट जाते है !!
ऐसे आचार्य जिन चन्द्र सूरी को
शत् शत् शीश नवाते हैं !!

हे सत्य सनातन के वक्ता
खोलो अपने उपदेशो को।
है यही प्रार्थना शुद्ध बुद्धि,
हर दो धरती के क्लेशो को ॥

आज भारत की धरा पर, पाप छाए किस कदर
कर बद्ध मेरी इस विनय को हे सूरीश्वर स्वीकार
कर लो ! शुभ हमारी वन्दनाएं
आचार्य अब स्वीकार लो !!